हनुमत्पूजा और हनुमान चालीसा द्वारा जनता में निर्भीकता लाने का प्रयास–

उस समय का भारतीय समाज हिन्दू और मुसलमान, इन दो जातियों में विभक्त था, यह हम आठवें अध्याय में देख चुके हैं। यह भी हम जान चुके हैं कि मुसलिम जनता के अमानुषीय वा पैशाचिक कार्यों, तथा मुसलिम शासकीय अत्याचारों के कारण हिन्दू जनता घर-बाहर सभी स्थानों में सभी समय पर भयभीत बनी रहती थी। इसलिये तुलसी ने अपनी क्रान्ति का प्रथम चरण हिन्दू जनता में निडरता उत्पन्न करने के हेतु प्रारम्भ किया। इसके लिये उन्होंने भिन्न भिन्न स्थानों पर हनुमान-मन्दिरों की स्थापना की वा कराई तथा हनुमान-उपासना करने के लिये लोगों में रुचि उत्पन्न की। हनुमान वज्र सा बल देनेवाला, संकट हरनेवाला, भूत-पिशाचादि से निडर करनेवाला, खल रूपी वन को पावक के समान भस्म करनेवाला, असुरों का निकन्दन (उन्मूलन) करनेवाला आदि आदि गुणों से विभूषित देव बताया गया। इन गुणों का परिचय कराने के हेतु राम-कथा का मनाया जाना तथा रामलीला का कराया जाना भी प्रारम्भ किया ताकि हनुमान का उक्त गुणों-युक्त चरित्र सुन या देखकर मनुष्यों के हृदय से भय भाग जावे, इसी अभिप्राय से तुलसी ने हमारी समझ में, हनमान चालीसा की रचना इतने छोटे रूप में की कि जिससे उसका चलते-फिरते कुछ मिनटों में पाठ किया जा सके। उसकी भाषा और रूप को देखकर यदि यह कहा जाय कि तुलसी की रचनाओं में वह सम्भवतः सर्वप्रथम हो, तो कुछ असंगत न होगा। ऐसा प्रतीत होता है मानो क्रान्ति क्षेत्र पर पदार्पण करने वाले किसी नवयुवक धर्म-प्रेमी कवि का वह प्रथम तीर है जिसका चलाना सिखाकर वह अपने लक्ष्य-वेध के लिये सैनिक तैयार करने के लिए तत्पर हुआ हो! इस विधान से पर्याप्त फल भी उन्हें मिला, जो आगामी अध्याय में बताया जावेगा।

तुलसी-साहित्य के प्रायः सभी प्रमुख समीक्षक हनुमान चालीसा को तुलसी की रचना मानने को तैयार नहीं हैं, जैसा कि हम गत तीसरे अध्याय में कह आये हैं। इसका एक कारण तो यह है कि वे समझते हैं कि कवितावली,

विनयपत्रिका, मानस आदि जैसे ग्रन्थों के प्रसिद्ध रचयिता तुलसी की भाषा और कविता इतने निम्नस्तर की नहीं हो सकती जैसी कि हनुमान चालीसा की है। दूसरा कारण यह है कि इन समीक्षकों में से बहुत से ऐसे हैं जिन्होंने पूर्व में निर्धारित उक्त प्रकार के अनुसन्धान को ही अपने मत का आधार मान लिया है। हमारी समझ में उक्त दोनों प्रकार की कसौटियां उपयुक्त नहीं हैं। किसी भी क्षेत्र को लीजिये, उसका आज का सम्पन्न-कार्य-कर्ता, चाहे वह कवि-सम्राट हो या तत्व-विशारद, चाहे वह कलाकार हो या विज्ञानी, प्रारम्भिक काल में केवल एक नौ-सिखिया के समान ही होता है। इस दृष्टि से यदि हनुमान चालीसा तुलसी का सर्व प्रथम साहित्यिक गुरिया कहा जाय तो आपत्ति उठाने के लिये कोई गुंजाइश नहीं दिखाई देती, विशेष कर इसलिये कि तुलसी की अन्य सभी प्रमुख कृतियों में उन्होंने हनुमान को विशेष महत्व दे रखा है, और इसलिये भी कि अनुसन्धानकर्ता इस बात को निर्विवाद रूप से मानते हैं कि तुलसी हनुमान के उपासक थे तथा हनुमान मन्दिरों और हनुमान मूर्तियों के स्थापनादि कार्यों में प्रमुख भाग लेते थे। काशी में अस्सी घाट पर तथा नगवा के पास अस्सी के नाले पर हनुमान की स्थापना करना, तथा निवासस्थान का नाम हनुमान-फाटक रखना एवं अस्सी पर रामलीला का आरम्भ करना उक्त कथन के प्रमाण हैं।[१] डा० राजपति दीक्षित जी ने यह ठीक कहा है कि "हनुमत्पूजा के प्रसार का आयोजन करके, हनुमत्मन्दिरों की स्थापना करके, और रामलीला की व्यवस्था बांधकर उन्होंने (तुलसी ने) प्रजा का हित-साधन करने में कुछ उठा नहीं रखा।"[२] यदि यह कहा जाय कि उक्त प्रमाणों से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि तुलसी के उक्त कृत्यों का सम्बन्ध केवल काशी से था, तो भी हमारे उपरोक्त निदान को कोई ठेस नहीं पहुँचती। सम्भव है, अनुसन्धानकर्ता यदि उस ओर विशेष ध्यान दें तो काशी के अतिरिक्त दूसरे स्थानों के दृष्टान्त

---

१. तुलसी ग्रन्थावली (तीसरा खंड), प्रस्तावना, पृष्ठ ३२-३३
२. तुलसीदास और उनका युग पृ० ५०

भी उपलब्ध कर सकें। फिर यदि यही मान लिया जाय कि तुलसी ने काशी को छोड़ किसी दूसरे स्थान पर हनुमान-स्थापना और रामलीला का प्रसार नहीं किया तो भी इतना तो अनुभव सिद्ध है कि श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा किये गये कृत्यों का अनुकरण दूसरे लोग अपने अपने स्थानों पर अवश्य करने लगते हैं। आज जब हम असंख्य स्थानों पर हनुमत्मूर्तियों को तथा अनेक स्थलों पर रामलीला को देखते हैं तो यही कहा जा सकता है कि किसी श्रेष्ठ पुरुष द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्यों का ही वह विस्तृत अनुकरण रूप है। आपको स्मरण होगा कि लोकमान्य तिलक ने भी अंग्रेजी-राज्य के विरुद्ध चेतना-जागृति के अभिप्राय से अपने निवास-स्थान पूना में गणेश-उत्सव को प्रारम्भ किया था, जो समय पाकर धीरे धीरे प्रायः सभी भारत में, विशेषकर महा-राष्ट्र-भाग में, पर्याप्त रूप से फैल गया था। जन साधारण में बल-बुद्धि-युक्त निर्भीक जनमत उत्पन्न करने के लिये देव-पूज़ा का वैसा ही महत्व होता है, जैसा कि बालक को वर्ण-माला दिखाने के लिए किसी प्रत्यक्ष पदार्थ का होता है। जिस प्रकार 'घर' का 'घ' अथवा 'छड़ी' का 'छ' कहने वाला बालक कालान्तर से 'घर' और 'छड़ी' के स्थान में 'घ' और 'छ' से बंध जाता है उसी प्रकार जन-साधारण देव-विशेष के स्थान में **तत्सम्बन्धी सद्गुणों का प्रतिपालन करने में तत्पर हो जाता है**। इस तरह तुलसी ने हनुमत्पूजा के आश्रय से मुसलमानों के अत्याचारों के विरुद्ध निर्भीकता पूर्ण जन-मत तैयार किया। जब किसी राज्य में स्वतंत्र-विचार को कुचल कर रखने के लिये घोर से घोर आतंक और कुचक्र चलाया जाता है तो राजनीति-कुशल लोग इसी प्रकार का कार्य-क्रम जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं। अंग्रेजों की दमन नीति की अपेक्षा मुसलमानों की दमन नीति कई गुणी अधिक थी। इसलिये यदि श्रेय स्वतंत्रता के आन्दोलन की दृष्टि से गणेश-उत्सव को प्रारम्भ करने का तिलक जी को है तो उनसे कई गुणा अधिक श्रेय हनुमत्पूजा प्रारम्भ करने के कारण तुलसी को है। तुलसी काल के कुचक्र को देखते हुए इसे तुलसी का एक अनुपम राजनैतिक चातुर्य कहा जाय तो ठीक ही होगा।

देशाटन द्वारा जन-सम्पर्क—

आचार-विचार के प्रचार के लिए जन-सम्पर्क से अधिक अच्छा साधन कोई दूसरा नहीं होता, यह निर्विवाद सत्य है। और जन-सम्पर्क का सबसे उत्तम साधन होता है, पद यात्रा, जिसके विषय में हम राम की यात्रा के समय कह आये हैं। पद यात्रा करते हुए जनता के बीच पारस्परिक वार्तालाप तथा कथा-विवेचनों के करते जाने से जो लाभ होता है वह लोक-सेवा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रहता है।

तुलसी ने देशाटन किया, इस सम्बन्ध में अन्वेषकों में मत-भेद नहीं है। परन्तु इस विषय पर, हमारी समझ में अभी तक पर्याप्त खोज नहीं की गई। जो कुछ खोज की गई है उससे इतना ही पता चलता है कि तुलसी ने केवल उत्तरी भारत के कुछ जिलों में भ्रमण किया तथा कुछ प्रमुख तीर्थ-स्थानों पर आश्रम-वास किया। वहीं से वे किसी किसी स्थान को चले जाया करते थे। इस प्रकार के अनुसन्धानों से इतना ही ज्ञात होता है कि तुलसी केवल धर्म-भावना से प्रेरित हो बहुधा तीर्थ-स्थानों को ही जाया करते थे। इसलिए उनकी यात्रा अधिकतर तीर्थाटन नाम से प्रसिद्ध है।

तुलसी ग्रन्थावली (खंड ३) की प्रस्तावना में 'पर्य्यटन' शीर्षक के अन्तर्गत बलिया जिला (संयुक्त प्रदेश) के कुछ ग्रामों का उल्लेख किया गया है जहां तुलसी दास जी पहुँचे।[३] उसी में तुलसी की 'कुछ जीवनियों के आधार पर कुछ फुटकर बातें' दी हैं जिन्हें पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे कई जिलों के ग्रामों में भी भ्रमण करते रहे।[४] परशुराम चतुर्वेदी जी ने तुलसी के निजी ग्रन्थों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि वे अयोध्या, काशी, चित्रकूट और प्रयाग (तीरथराज) में रहे होंगे।[५] परन्तु इसके विषय में भी कोई काल-क्रम निश्चित नहीं किया जा सकता। डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन ने

---

३. तुलसी ग्रन्थावली (खंड ३) प्रस्तावना पृ० ३०,३१;
४. तुलसी ग्रन्थावली (खंड ३) प्रस्तावना पृ० ४९-५५
५. मानस की राम-कथा, पृ० २७

निस्सन्देह अपने लेख में बहुत पहले यह लिखा था कि तुलसी अपने गुरु के साथ "सारे उत्तर भारत में घूमे" और फिर गृह-पत्नी के वचनों के कारण साधु हो जाने पर "पहले अयोध्या में और फिर काशी में स्थान बना करके उत्तरी भारत में दूर दूर तक घूम कर राम नाम का उपदेश देते रहे।"[६]

राम नाम का उपदेश देना ही, हम गत पृष्ठों पर भली भांति बता आये हैं, लोक-कर्म का उपदेश देना है, और यह लोक-कर्म भी ऐसा कि उसके पालनार्थ आवश्यकतानुसार खल या असुरों के संहार, अथवा यह कहिये, आसुरी वृत्तियों के उन्मूलन के हेतु त्याग और वीरता के प्रयोग में किंचित मात्र भी कमी न रहने पावे। जो महात्मा किसी ग्रन्थ को इसलिए लिखे कि उसके आदर्शनायक के लोक-कर्म प्रकट हों, उसी के विषय में यदि यह धारणा बना ली जाय कि वह अपने श्रोताओं के सन्मुख उन यशस्वी लोक-कर्मों की चर्चा नहीं करता, वरन् उस आदर्शनायक के नाम-जप की ही बात किया करता था, तो इससे अधिक हास्यास्पद बात और क्या हो सकती है। सच बात तो यह है कि उसका उद्देश्य ही यह रहता है कि श्रोतागण उसके आदर्श-नायक के लोक-कर्मों को अच्छी तरह से सुने-समझें और उनके अनुकूल चलें। वह चाहता है कि जनता उस आदर्श-नायक के पद-चिन्ह या चरण-रेख को देख-दखकर अपना कर्म-मार्ग निर्धारित करे। यही उसका भक्ति-मार्ग है—इसी में स्वामी की पद-पूजा अथवा चरण-वन्दना का भाव निहित है जैसा कि हम किसी गत अध्याय में प्रकट कर आये हैं। इसलिए हम तो इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि जहां जहां तुलसी जाते या निवास करते थे वहां वे सदैव श्रोताओं का ध्यान राम की लौकिक कर्त्तव्य-परायणता की ओर इस विचार से आकर्षित करते थे कि जिससे वे भी अपने समय की सामाजिक दुर्दशाओं को मिटाने के लिए उसी तरह कटिबद्ध हो उठें जिस प्रकार राम हुए थे। यही उद्देश्य तुलसी के देशाटन और यात्रा का था, और इसी उद्देश्य की पूर्ति वे पूर्वोक्त तीर्थ-स्थानों में रहकर किया करते थे। उक्त चारों स्थान

६. तुलसी ग्रन्थावली (खंड ३) निबंधावली पृ० २७

'उत्तर' भारत के प्रमुख तीर्थ-स्थान माने जाते हैं। वहां भारत के भिन्न भिन्न कोनों से सहस्रों नर-नारी नित्य-प्रति धर्म भावना को लेकर तीर्थ करने जाया करते हैं। तुलसी के काल में भी जाया करते थे। रेल के अभाव में इन तीर्थ-यात्रियों को पद-यात्रा करनी पड़ती थी, जिसके कारण उनकी वह तीर्थ-भावना कम से कम घर लौटने के महीनों तक बनी रहती थी। जब वे तीर्थ-स्थान को पहुँचते तो दूसरों से वे तुलसी के विषय में सुनते, उनके दर्शन करते, उनसे वार्तालाप करते, उनकी राम-कथा सुनते, अथवा राम-लीला देखते। गरज यह कि उक्त तीर्थस्थानों में रहने से एक बड़ा भारी लाभ तुलसी को यह था कि उनका सन्देश इन तीर्थ-यात्रियों के द्वारा भारत के ग्राम-ग्राम में दूर-दूर तक पहुंचाया जा सकता था। उन दिनों में जब अक्षर ज्ञान प्रायः कुछ न था, विचार-वहन के साधन नहीं के बराबर थे, तथा यात्रियों को आने-जाने का उपाय मूलतः पैदल चलना ही रहता था, तब भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक सन्देश पहुँचाने का इससे अधिक बढ़िया साधन कोई दूसरा नहीं बनाया जा सकता था। अन्य आलोचक भले ही सोचें कि तुलसी ही एक रूढ़िवादी विरक्त के समान आत्म-मोक्ष के हेतु तीर्थ-स्थानों में निवास करते थे, परन्तु जब राम उनकी उस व्यावहारिक अन्त-र्दृष्टि पर ध्यान दौड़ाते हैं जिसका यथासंभव विवेचन पाठकों को गत पाठों में मिला होगा, तब हमें तो यही प्रतीत होता है कि उन्होंने तीर्थ-स्थानों में लम्बी लम्बी अवधि तक रहकर रामकथा कहने वा राम-लीला करने में इस लाभ पर अवश्य ध्यान रखा होगा, कि वे वहीं से अपने इष्ट सन्देश को गांव गांव में सुगमता से पहुँचा सकेंगे। अन्य स्थानों में रहने से न यह सुगमता मिलती और न वह सन्देश ग्रामीण जनता के कान तक यथा शीघ्र पहुंचाया जा सकता था, जो क्रान्ति के प्रथम तकाजे थे। तुलसी की राजनैतिक गहराई का यह भी एक नमूना है।

अब प्रश्न यह उठता है कि तुलसी उत्तर भारत ही में क्यों घूमें, दक्षिण की ओर क्यों नहीं गये, जब कि उनका उद्देश्य यह था कि सारे भारतवर्ष में क्रान्ति की बिगुल फूंकी जाय। तत्कालीन परिस्थितियों ने ही उन्हें ऐसा

करने के लिए बाध्य किया। यों तो एक कारण यही कहा जा सकता है कि उस युग में यात्रा-सम्बन्धी कठिनाइयों की विशेषता थी, और दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि वे हिन्दी-भाषा ही में अपने सन्देश का प्रचार करना चाहते थे, और इस प्रकार के प्रचार के लिये उत्तर भारत ही उपयुक्त स्थान था। परन्तु राजनैतिक दृष्टि से दूसरे ही कारण प्रतीत होते हैं। तुलसी का जन्म उत्तर भारत में हुआ। उत्तर भारत में ही मुसलमान राजों की राजधानी तथा सामन्तशाही के प्रमुख स्थान वा गढ़ थे। वहीं शासकीय अत्याचारों की पराकाष्ठा का प्रत्यक्षीकरण हो रहा था, तथा उस शासन के लाड़लों द्वारा भीषण दुराचारों का नंगा नृत्य देखने को मिलता था। आगरा मुगल-बादशाहत की राजधानी बन चुका था। अकबर की कुटिल नीति और जहांगीर की कठोर व्यभिचारिणी नीति ने क्षत्रिय राजाओं की मान-मर्यादा को मटियामेट करके उन्हें बादशाही दरबार के पिट्ठू बना लिया था। अतएव यह आवश्यकता थी कि क्रान्ति का प्रारम्भ यहीं से किया जाय और राजधानी के समीपवर्ती स्थान ही उसके केन्द्र बनाये जावें। इसलिए जिस उत्तर भारत में तुलसी का जन्म हुआ, जिस उत्तर भारत में रहकर उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का अनुभव किया, तथा जिस उत्तर भारत में संशोधनात्मक क्रियाओं का अविलम्ब प्रयोग करना परमावश्यक था, उसी उत्तर भारत को छोड़कर अन्यत्र इधर-उधर जाना उतनी ही भयंकर विवेकहीनता होती जितनी कि प्रधान मोर्चे को छोड़कर दूसरे मोर्चे पर जा पहुंचनेवाले किसी सेनानी की हो सकती है। इन्हीं कारणों से हमारा अनुमान है कि तुलसी ने उत्तर भारत के उक्त चार प्रधान तीर्थ-क्षेत्रों से ही अपनी उद्दिष्ट क्रान्ति का प्रवाहन करना उपयुक्त समझा होगा।

त्रिविध उपायों द्वारा कर्त्तव्य-भावना की जागृति—

क्रान्ति का लाना किसी एक मनुष्य के बूते की बात नहीं। उसके लिये चाहिये सम-विचारी अधिक से अधिक कार्यकर्ता। तुलसी के हृदय में क्रान्ति-

कारी वेदना उठी सही, पर उतने ही से काम नहीं बन सकता था। अतः उन्हें यह चिन्ता होना स्वाभाविक थी कि वे किस तरह क्रान्तिकारी भावनाओं-वाला दल उत्पन्न करें। सबसे पहले उन्होंने डरे हुए हृदयों में निर्भीकता भरने का साधन प्रस्तुत किया। फिर जन-सम्पर्क के द्वारा कर्त्तव्य की ओर रुझान (झुकाव) उत्पन्न किया। तत्पश्चात् जन-समाज में विस्तृत रूप से कर्त्तव्य भावना को जागृत करना आवश्यक समझा गया। इसके लिए उन्होंने बौद्धिक दृष्टि से मानव-समाज को तीन विभागों में विभक्त किया, यथा (१) निपट गँवार अथवा विराट मूर्ख (२) कुछ समझदार और (३) शिक्षित समझदार। इन तीन वर्गों के लिए उन्होंने तीन प्रकार के साधन निकाले। विराट मूर्खों को राम के कर्त्तव्यों का प्रदर्शन करके बताना अर्थात् रामलीला करना वा कराना; सामान्य समझवालों के लिए प्रवचन करना अर्थात् राम कथा कहना; और शिक्षित समझदारों के लिए सरल भाषा में विविध विषयों पर ग्रन्थों की रचना करना।

(१) रामलीला (प्रदर्शन) द्वारा :—

यों तो रामलीलाओं का प्रदर्शन आज भी प्रतिवर्ष दशहरे के समय अनेक स्थानों पर किया जाता है। कभी कभी कहीं कहीं पर दशहरे के पहले या बाद में भी वर्ष-काल के किसी भी समय पर राम-लीलाएं कराई जाती हैं परन्तु इनमें से अनेकों तो भड़ैती रहती हैं, और कुछ थोड़ी ऐसी रहती हैं जो कुछ लोग चन्दा एकत्र करके उसके बल पर करते हैं। ग़रज यह कि प्रायः सभी धन-राशि पर दस-पन्द्रह दिन तक जीवित रहती हैं और मनोरंजन करके समाप्त हो जाती हैं। और तो और उन्हें कई मनचले लोग बहुधा विषयाशक्ति के स्थल बना लेते हैं। इसलिए वे कर्त्तव्य-शिक्षा के क्षेत्र न बनकर उल्टे द्रव्य-लिप्सा, क्रीड़ा, मनोरंजन एवं विषयाशक्ति के स्थान बने हुए दिखाई देते हैं। कहां तुलसीदास ने रामलीला-प्रदर्शन इसलिये प्रारम्भ किया था, कि मूर्ख से मूर्ख मनुष्य भी लोक-कर्म की यथार्थता को समझ सके, और कहां यह व्यर्थ का आडम्बरी खेल बन पड़ा है। जो भी हो हमारा अभि-

प्राय केवल तुलसी की उस दूरदर्शिता को बताने का है जिसके कारण उन्होंने अपनी अध्यक्षता में राम-कथा से सम्बन्धित प्रसंगों का रामलीला के रूप में प्रदर्शन करना इस हेतु से प्रारम्भ किया कि जिससे निरक्षर मूर्ख जनता भी समाज के अधर्माचरणों के प्रति जागरूक होकर उनकी क्रान्ति में यथासम्भव योग दे सके अथवा उसके प्रति उसकी सहानुभूति पूर्ण भावना ही जागृत हो उठे।

(२) राम-कथा (प्रवचन) द्वारा--

इसी तरह राम कथा पर प्रवचन भी हमें अनेक स्थानों पर सुनने मिलते हैं, पर प्रायः उन सबकी तह में मुद्राओं की ही झंकार रहती है, सहृदयी सेवा की भावना नहीं। उनमें हृदय में ठेस लगे हुए तुलसी की न तो वह वेदना रहती है, और न वह कर्त्तव्य-परायणता की पुकार, जो तत्कालीन अधर्माचार ने उनके अन्तस्तल में कूट कूट कर भर दी थी। तुलसी राम-लीला करते थे और राम कथा भी कहते थे, इसमें कोई दो मत नहीं। उनका नियम था कि वे जब अपने आश्रम में रहते थे तब वहां भी लोगों को राम-कथा सुनाते थे। श्रोतागण भी उनकी रामकथा सुनने पर्याप्त संख्या में एकत्र हुआ करते थे। रामकथा कहते समय प्रसंगानुसार उनके प्रवचन भी बड़े रोचक और शिक्षाप्रद होते थे। हमारी नजर में तो इस समय ऐसा झूल रहा है कि मानो सौम्य स्वरूप तुलसी श्रोताओं के एक भारी समूह के समक्ष हिन्दू-समाज की विविध क्षेत्रीय हृदय-द्रावक हीनता और मुसलिम समाज की दुखद दुर्नीति का अपने करुणा भरे प्रवचनों द्वारा एक ऐसा चित्र खींच रहे हैं कि उन श्रोताओं में से अनेकों के नेत्रों से आंसू झलक उठे हैं। यदि यह कहा जाय कि समय पाकर यही आंसू भरे लोग तुलसी के साथी बनकर अथवा उनकी योजना के प्रति सहानुभूति रखकर स्वयं समाजोत्थान में भाग लेनेवाले बनते जाते थे और दूसरों को बनाते जाते थे, तो कुछ गलत न होगा।

प्रवचन का रूप देखने में तो प्रायः हमारे चिर-परिचित व्याख्यानों जैसा ही होता है, पर आधार की दृष्टि से दोनों के बीच कौड़ी-मोहर का अन्तर

रहता है। प्रवचन में लोक-कर्म को नियंत्रित रखने के लिये ईश्वर, सत् अथवा निरहंकार का प्राधान्य रहता है, जब कि व्याख्यानों में बहुधा मानव, मन-बुद्धि अथवा अहंकार का प्राधान्य वर्ता जाता है। इसलिए मानवता के शिक्षण की दृष्टि से प्रवचनों का मूल्य व्याख्यानों की अपेक्षा अधिक होता है। चूंकि ईश्वरत्व की भावना की उपेक्षा की जाने के कारण व्याख्यान बहुधा जन-समूह को गलत मार्ग पर ले जानेवाले होते हैं, इसीलिए हमारी समझ में गांधी जी ने अपने अन्त-काल के कुछ वर्षों पहले से प्लेटफार्मी व्याख्यानों के स्थान में सामूहिक रूप में प्रार्थनाएं करने की पद्धति प्रारम्भ की, और वहीं पर ईश्वर की प्रतीति के समक्ष निरहंकारी भावना से देश-विदेश में व्याप्त समस्याओं की चर्चा भी की जाने लगी। यह प्रथा गांधी जी ने अपने अन्त समय तक निबाही और अब उसका पालन उनके सच्चे शिष्य विनोबा भावे भी नित्य-प्रति करते जा रहे हैं। तुलसी के राम-कथा पर आधारित प्रवचन बहुत कुछ इन्हीं सामूहिक प्रार्थनाओं के समान समझना चाहिये।

(३) साहित्य-रचनाओं द्वारा —

तीसरे वर्ग के उन समझदार लोगों के लिये जो पढ़े-लिखे थे, तुलसी ने उपयुक्त साहित्य का निर्माण किया। उन्होंने विविध विषयों पर विविध छन्दों और गीतों में रचनाएं कीं। इसका मूल कारण यह है कि पढ़े-लिखे लोगों में भी भिन्न भिन्न रुचि के लोग हुआ करते हैं। ये पढ़े-लिखे लोग स्वयं तो पढ़ते ही हैं, पर भिन्न भिन्न रुचि के दूसरे लोगों को भी पढ़कर सुनाया करते हैं। इसलिये तुलसी ने विविध विषयों पर भिन्न भिन्न छन्दों में अपनी साहित्यिक रचनाएं की, जिससे पाठक और श्रोता दोनों अपनी अपनी रुचि के अनुसार एक सा लाभ उठा सकें। इसी कारण से दृष्टान्त-स्वरूप एक ओर हमें मनोरंजक गीत वाला राम-लला नहछू ग्रन्थ मिलता है, तो दूसरी ओर सगुन बताने वाला रामाज्ञा प्रश्न; एक ओर वरदायक हनुमान चालीसा हनुमान वाहुक मिलते हैं, तो दूसरी ओर तत्वज्ञान से भरी हुई कवितावली,

विनय पत्रिका तथा वैराग्य-संदीपनी की रचनाएं देखने में आती हैं। परन्तु जिन्हें एक ही स्थान पर सब रस पाने की इच्छा हो वे सब रसों की खान केवल मानस का ही आश्रय ले सकते हैं। तुलसी की रचनाओं में एक विशेषता यह है कि यद्यपि उन्होंने विविध विषयों पर अलग अलग ग्रन्थ लिखे हैं, तथापि उन सबका मूलाधार रखा गया है, उनका एक वही राम जिसे हमने त्रिभावात्मक कहकर बताया है। इसका कारण है और वह यह है कि तुलसी-मत में ईश्वर और लोक का अमिट सम्बन्ध है, और यही द्विविधा सम्बन्ध का पालन उनके मत में मानव-जीवन की परिभाषा है। इसी अभिप्राय से उनके समस्त साहित्य का सृजन हुआ है और इसी अभिप्राय की पूर्ति के लिए उन्होंने विद्वन्मण्डली को अपने उस साहित्य द्वारा उद्दिश्य क्रान्ति के पथ पर अहिंसात्मक विधि से कर्तव्यारूढ़ होने के लिये आह्वान किया, क्योंकि उक्त द्विविधा सम्बन्ध पालनेवाले में प्रेम की प्रेरणा का होना तथा अहिंसावृत्ति का आ जाना स्वाभाविक ही होता है।

क्रान्ति का कार्यारम्भ और तुलसी को दण्ड—

जब सामान्यतः कर्त्तव्य-भावना जग उठी और कुछ लोग कर्त्तव्यारूढ़ हुए पाए जाने लगे तो तुलसी ने समाज के उन सभी क्षेत्रों में कार्य प्रारम्भ कर दिया जहां जहां उन्हें संशोधन की आवश्यकता दिखती थी। हर क्षेत्र में उनके ये नव सैनिक अपनी-अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार कार्य करने में जुट गये। कुछ लोग वर्ण-व्यवस्था के सुधार में लग गये, तो कुछ आश्रम-व्यवस्था की ओर झुक पड़े। कुछ हिन्दू मुसलिमों में परस्पर प्रेम बढ़ाने में लग गये, तो कुछ माता-बहिनों ही की रक्षा करने लगे। किन्हीं ने दीन-दरिद्र लोगों की ओर ध्यान दिया, तो किन्हीं दूसरों ने धनी-मानी लोगों का ध्यान अपने मान-मर्यादा को बचाने की ओर आकर्षित किया। सारांश यह कि क्रान्ति का अहिंसा पूर्वक कार्य सब ओर यथावकाश और यथाविधि प्रारम्भ हो गया। संसार का यह एक विचित्र नियम है कि जब कोई किसी क्षेत्र की प्रचलित पद्धतियों में संशोधनार्थ जी जान से जन-सेवा करने लगता है तब उसे उसी

जनता का कोप-भाजन भी बनना पड़ता है तुलसी पर भी वही बीते बिना न. रह सका।

(१) राजदण्ड —

राजनैतिक क्षेत्र में कुछ कार्य हुआ या नहीं, और हुआ तो क्या हुआ, इस विषय में लोगों के मन में काफी सन्देह है। यों तो राजनैतिक क्षेत्र अन्य मानवीय क्षेत्रों से इस तरह गठित रहता है कि यदि अन्य क्षेत्रों में कार्य किया जाय तो राजनैतिक क्षेत्र पर भी उसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़े बिना नहीं रहता। फिर भी हमको तुलसी की जीवनी में एक ऐसी घटना का उल्लेख मिलता है कि उसको देखकर हमारे मन में यह एक तीव्र कल्पना उठती है कि तुलसी निस्सन्देह अपनी क्रान्तिकारी कार्यवाहियों के कारण राज दरबार की नजरों में बुरी तरह से खटकने लगे थे।

घटना यह बताई जाती है कि एक बार तुलसी ने एक मुर्दा को जिला दिया था। तब "मुर्दा जिलाने की बात बादशाह के कानों तक पहुँची। उसने इन्हें बुला भेजा और कहा कि कुछ करामात दिखलाइये। इन्होंने कहा कि "मैं सिवाय राम नाम के और कोई करामात नहीं जानता।' बादशाह ने इन्हें कैद कर लिया और कहा कि 'जब तक करामात न दिखाओगे छूटने न पाओगे। तुलसीदास जी ने हनुमान जी की स्तुति की। हनुमान जी ने बंदरों की सेना से कोट को विध्वंस कराना आरम्भ किया, और ऐसी दुर्गति की कि बादशाह आकर पैरों पर गिरा और बोला कि 'अब मेरी रक्षा कीजिये।' तब फिर गोसाईं जी ने हनुमान जी से प्रार्थना की और बन्दरों का उपद्रव कम हुआ। गोसाईं जी ने कहा कि अब इसमें हनुमान जी का वास हो गया, इसलिये इसको छोड़ दो, नया कोट बनवाओ बादशाह ने वैसा ही किया।"[७]

तुलसी ग्रन्थावली (खंड ३) की प्रस्तावना के परम प्रसिद्ध लेखक रामचन्द्र शुक्ल जी उक्त वार्ता का उल्लेख करने के पश्चात् उसके विषय में अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट करते हैं कि "जान पड़ता है कि दिल्ली

---

७. तुलसी ग्रन्थावली (खंड ३) प्रस्तावना पृ० ४२-४३

के नये किले के बनने पर पुराने किले में बन्दरों का डेरा डालना और कोट को तहस नहस कर देना देखकर ही यह बात प्रसिद्ध हो गई है। यह भी सम्भव है कि जहांगीर ने उन्हें बुलाया हो और कुछ दिनों कैद रक्खा हो। तुलसीदास की मृत्यु संवत् १६८० में हुई, और बादशाह शाहजहां संवत् १६८५ में गद्दी पर बैठा। उसीने नई दिल्ली (शाहजहांबाद) बसाई और किला बनवाया।"[८]

घटना सत्य है, या महात्माओं के कार्यों पर चमत्कारिता का रंग चढ़ाने वालों की कोरी कल्पना अथवा अतिशयोक्ति, कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु जिस तरह अनुमान लगाकर उक्त शुक्ल जी ने उस पर सत्यारोप करके बताया है उसी प्रकार हमें भी उसमें पूर्ण नहीं तो, अशंतः सचाई अवश्य जँचती है। उसे सच मानने का हमारा कारण शुक्ल जी के कारणों से कुछ दूसरा ही है। हमारे बताये हुए कारण में पाठक देखेंगे ऐतिहासिक तथ्य की विशेष झलक है।

वार्ता से यह पता नहीं लगता कि किस बादशाह ने किस किले में, कब और कितने दिनों तक तुलसी को कैद कर रखा था। उससे केवल कैद होने और छूटने के ही कारण मालूम होते हैं, जिनकी सचाई में सन्देह है। शुक्ल जी ने इन कारणों के विषय में अपना कोई मत प्रकट नहीं किया, केवल कैद होने की सम्भावना बताई है।

यदि कैद होना सच है तो यह भी निस्सन्देह है कि तुलसीदास जी को आगरा के किला में रखा होगा, क्योंकि उनके मृत्यु-काल तक न नई दिल्ली (शाहजहांबाद) बसाई गई और न वहां नया किला बनाया गया। उस समय आगरा ही बादशाहत की राजधानी थी।[९] दूसरा प्रश्न यह है कि कैद अकबर

---

८. तुलसी ग्रन्थावली (खंड ३) प्रस्तावना पृ० ४२-४३

९. नई दिल्ली का बसाया जाना, लेनपूल के कथनानुसार, सन् १६३८ (सं० १६९४) में प्रारम्भ हुआ और सन् १६४८ (सं० १७०४) में समाप्त हुआ। (Lane-Pool es Mediaeval India P. 340)

ने किया या जहांगीर ने ? शुक्ल जी ने जहांगीर की सम्भावना बताई है। हमें अकबर की सम्भावना प्रतीत होती है। इसके दो कारण हैं। एक तो यदि हमारी स्मृति हमें धोखा नहीं देती तो याद पड़ता है कि लगभग ४०-४५ वर्ष पहले हम अपने विद्यार्थी-जीवन काल में यह पढ़ा करते थे कि तुलसी को अकबर ने कैद किया था। परन्तु दूसरा कारण राजनैतिक-सम्भावना है जिसका स्पष्टीकरण अभी आगे चलकर किया जावेगा। तीसरा प्रश्न है, कैद की घटना कब घटी ? इसका भी अनुमान लगाकर सम्भावित समय बताना कठिन है। यदि मुर्दा जिलाये जाने की वार्ता का ही समय निश्चित होता तो भी इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाना सम्भव हो जाता। फिर भी जब यह मान लिया जाय कि अमुक बादशाह ने कैद किया तो कैद करने का समय भी प्रायः जाना जा सकता है। चौथा प्रश्न है कितने दिनों तक कैद रहे ? इस विषय पर भी कुछ नहीं कहा जा सकता। पांचवां प्रश्न है कि क्या वार्ता में बानरों की बात बिलकुल मन गढ़न्त है, जैसा कि शुक्ल जी की इस युक्ति से विदित होता है कि नया किला बन जाने पर पुराने किले की बन्दरों द्वारा बरबादी की जाने के कारण यह बात प्रसिद्ध हो गई है ? इस तर्क में भी हमें तथ्य नहीं दिखता। बादशाही निवास हट जाने पर भी आगरा के किला तथा उसके अन्दर स्थित बादशाही भवनों आदि के रक्षण के लिये पर्याप्त सेना वा राज्य-सेवक रहते होंगें। छटवा प्रश्न है कैद होने और छूटनेका कारण, सो करामात की बात इसलिये नहीं जँचती कि करामात देखने का इच्छुक सबसे पहले तो करामाती की सेवा-सुश्रुषा कर देखने का प्रयत्न करता है, और जबरर्दस्ती करके देखें भी तो देखने पर वह उसका भक्त बन जाता है। यह न अकबर ने किया न जहांगीर ने। फिर, तुलसी जैसे सुदृढ़ मनुष्य क्या भय-भीत होकर कैद से छुटकारा पाने के हेतु या बादशाह को करामात् दिखा-कर प्रसन्न करने के लिये अपने इष्टदेव हनुमान का आह्वान कर उन्हें कष्ट देना उचित समझते इसलिए हमारी समझ में कैद करने वा छूटने का कारण इससे अधिक गम्भीर और तथ्यमय होना चाहिये, फिर चाहे कैद अकबर ने किया हो या जहांगीर ने ही।

यह एक ऐसा ऐतिहासिक सत्य है जिसे सब इतिहासज्ञ एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि तुलसी ने कभी राजदरबार वा राजदरबारियों के चक्कर नहीं काटे। डाक्टर ईश्वरीप्रसाद लिखते हैं कि "अकबर बादशाह को हिन्दी काव्य और संगीत से बहुत ही अधिक रुचि थी, और उसकी सहिष्णुता के कारण देश के सब भागों से प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवि और गायक राज दरबार आने के लिये आकर्षित रहते थे।"[१०] परन्तु "तुलसी कभी राजदरबार नहीं पहुँचे, और न उन्होंने अपने किसी ग्रन्थ में तत्कालीन शासन की चलती दृष्टि से भी कोई चर्चा की।"[११] यही कारण प्रतीत होता है कि "तुलसीदास का कोई जिक्र आइन-इ-अकबरी अकबर नामा अथवा तत्कालीन किसी अन्य मुस-लिम वृत्त-विवरण (chronicle) में नहीं किया गया है।"[१२] तुलसी यह करते ही कैसे? राजा, राजदरबार और राजदरबारियों की चाटुकारिता करते या कि उनमें प्रविष्ट अनर्थों एवं उनके शासन-कालीन दोषों को निकाल फेंकने में लगते? ये दो असमगतियां एक ही साथ कदापि नहीं सम्हाली जा सकती थीं। तुलसी सूरदास आदि जैसे निरे कवि और भक्त नहीं थे जो राज-दरबार के कृपापात्र बनकर रह लेते। वे थे कवि और भक्त के अतिरिक्त राज और समाज की खराबियों को मिटाने के लिए कमर कसे हुए डटे रहने वाले वीर भी। इसलिए यह स्वाभाविक था कि व्यक्तिगत सम्बन्ध के नाते इने-गिने दो-तीन राज दरबारियों को छोड़ तुलसी सभी राजदरबारियों बादशाह और उनके सभी मुंह लगे लोगों आदि की नजरों में खटकने लगे थे। ज्यों ज्यों उनका पूर्वोक्त कार्य-क्रम फैलता गया त्यों त्यों वे शत्रु के रूप में देखे जाने लगे। अन्त में जब बादशाही दरबार को यह पता लगा कि अनेक लोग तुलसी के साथी हो रहे हैं और जनता में उथल-पुथल मचाई जा रही है तो तुलसी को राजनैतिक बन्दी कर आगरा के किला में रख छोड़ा। जब

---

१०. History of India P, 901
११. वही पृ० ९०३
१२. वही पृ० ९०३

तुलसी के उन अनुयायियों ने, जो उनकी क्रान्ति में भाग लेने लग गये थे, अथवा अन्यान्य सहयोगियों ने यह देखा कि उनके साधुवृत्तिवाले नायक तुलसी बन्दी बना लिये गये हैं तो इधर-उधर से एकत्र होकर सहस्रों की संख्या में किले के आस पास अथवा सम्भवत: किले के भीतर ही उन्होंने तुलसीदास जी को मुक्त करने के नारे लगाना प्रारम्भ किये अथवा दूसरे ही प्रकार से मांग की। इस उत्पात को देख कर जांच-पड़ताल करने पर जब तुलसी अपनी अहिंसात्मक साधुवृत्ति के कारण निर्दोष पाये गये तो बादशाह ने उन्हें मुक्त कर दिया। यही हमें अधिक तर्क-संगत और सम्भावित प्रतीत होता है। यदि यह कहा जाय कि इस अनुमान में वानरों के उत्पात की बात कहीं नहीं आई इसलिये यह अमान्य ही ठहराया जाने योग्य है, तो हमारा उत्तर यह है।

अंग्रेज-सरकार के द्वारा निर्मित एक प्रमाणिक ग्रन्थ के आधार पर सब से पहले तो यह निश्चय हो जाता है कि तुलसी एक निरा साधु नहीं था वह एक जीता-जागता मानव ही था।. . . .वह अपने देश के लाखों मूक मानवों का प्रिय था।. . . .वह बहुत दूर दूर तक घूमा था जिससे अनेकों बड़े बड़े आदमी उसके मित्र बन गये थे।. . . .इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह अनूठा कवि के अतिरिक्त एक व्यग्र संशोधक (Enthusiastic Refomer) भी था।"[१३] फिर इसी ग्रन्थ में यह स्वीकार किया गया है कि तुलसी के पीछे चलने वाले सैकड़ों मनुष्य थे।" (Tulsidas has had hundreds of followers [१४]) आज जब सैकड़ों वर्ष पीछे जिसके सैकड़ों ही नहीं लाखों अनुयायी हों तो उसी के अपने जीवन काल में सैकड़ों साथी रहे होंगे, इसमें सन्देह नहीं है। इन्हीं सैकड़ों साथियों वा अनुयायियों द्वारा बादशाह के सामने विरोध-प्रदर्शन की बात हमने ऊपर बताई है।

---

१३. Imperial gazetteer of india (Vol. 2) P 419 Edition 1909

१४. वही पृ० ४२०

सम्भव है राम कथा से सम्बन्धित होने के कारण तुलसी ने स्वयं अपने ऊपर प्रेमपूर्वक श्रद्धा रखने वाले इन अनुयायियों के यूथों को बानर सेना नाम पहले से दे रखा हो ? अथवा यही हो सकता है कि तुलसी के साथ उनकी स्नेहमयी चांचलिक सहकारिता के कारण राम कथा के आधार पर किसी विरोध-पक्षवाले अथवा बादशाह ने स्वयं उन्हें व्यंग (Nic Kname) रूप से बन्दर कह डाला हो । बानर शब्द का अर्थ बन्दर करना, सच पूछा जाय तो ऐतिहासिक यथार्थता का गला घोंटना है। ऐतिहासिक यथार्थता तो हमें इसीमें दिखती है, जैसा हम पूर्व में कह आये हैं, कि वह भारत के मध्य भाग (बिन्ध्य-प्रदेश) में रहने वाली एक आदिवासी अनार्य जाति थी।[१५] कोई कहते हैं उनका स्वरूप बन्दरों जैसा था, कोई कहते हैं कि उनका ध्वजा चिन्ह बन्दर का था, और कोई कहते हैं कि वे बानर (बन्दर) पशु के पूजक थे, इसलिये वे बानर नाम से प्रसिद्ध हो उठे थे।[१६] नामकरण हम आप सभी जानते हैं, प्राय: पूर्वकाल में प्रचलित नामों के आधार पर हुआ करता है। अभी कुछ २५-२६ वर्ष पहले की बात है जब भारत में स्वराज्य का आन्दोलन चल रहा था तब गांधी जी ने उस आन्दोलन के कुछ विशेष प्रकार के नवायु सहायकोंको 'बानर-सेना' का नाम दे रखा था। यह नाम सम्भव है उन्हें राम-कथा के बानरों की राम-भक्ति, सहकारिणी चेष्टाओं, अथवा वैय-क्तिक छापामार (छुट-पुट) चांचलिक प्रवृत्तियों को देखकर ही सूझा हो। ऐसे ही कुछ कारणों से यदि तुलसी ने भी अपने कुछ अनुयायी-विशेषों को बानर-वर्ग, अथवा बन्दर-वर्ग ही सही, कहा हो तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं। इसलिये जब हम चमत्कार-दृष्टि को त्याग कर व्यवहार दृष्टि से उक्त कैद वाली वार्ता का अवलोकन करते हैं, तब हमें उसका यही रूप दिखता है कि जब तुलसी की क्रान्ति का कार्यक्रम जन समाज में बढ़ता हुआ दिखा अथवा जब क्रान्ति मध्यान्ह-सी तपने लगी तब लोगों में सनसनी

१५. राम कथा पृ० ११७
१६. वही " "

फैली और उसकी खबर बादशाह के कान तक पहुँची। यह बादशाह अकबर ही होना चाहिये, क्योंकि उसी के राज्यकाल (१५५६-१६०५ ई०) में तुलसी का जीवन २४ वर्ष की अवस्था से ७३ वर्ष तक की अवस्था तक जो क्रान्ति का उठता हुआ समय था, व्यतीत हुआ था। अतः बादशाह ने उसके कार्य-क्रम के नेता तुलसी को गिरफ्तार कर बन्दी बना लिया। परन्तु तुलसी की लोक-प्रियता उस समय तक इतनी बढ़ चुकी थी कि उनके सहस्त्रों भक्तों ने बादशाह के उक्त कार्य का विरोध किया, जिसके फलस्वरूप स्वयं सोच-विचार कर अथवा तुलसी के चाहनेवाले राजदरबारियों की सलाह से बादशाह को उन्हें बन्धन से मुक्त कर देना पड़ा। यदि मुक्त न किया होता तो सम्भव था विशालरूप में राज-विद्रोह उठ खड़ा होता। अहिंसा-प्रधान गांधी-आन्दोलनों तथा उनके कारण गांधी का बारबार बन्दी बनाये जाने एवं जन-विरोध-प्रदर्शन के कारण उनके मुक्त किये जाने की घटनाओं को देख चुकने के पश्चात् तुलसी से सम्बन्धित उक्त वार्ता की सत्यता में हमें तो कोई सन्देह दिखाई नहीं देता। यह दूसरी बात है कि तुलसी को न समझने वाले, चमत्कार-प्रिय, राज-भय से संशकित उनके किसी भक्त ने उस वार्त्ता पर वैसा ही रंग पोत कर उसे अविश्वसनीय बना दिया है जैसा कि संसार के सभी महान पुरुषों की महानताओं का प्रदर्शन करने के लिए ये चमत्कार-प्रिय अन्ध-भक्त किया करते हैं। इन चमत्कार-प्रिय भक्तों ने कुछ निरी कल्पित और कुछ अतीवतापूर्ण बातें जोड़ तुलसी की जीवनी को अव्यवहारिक बनाकर उनके प्रति अन्याय ही किया है। इससे हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि श्रेष्ठ पुरुषों के कोई कार्य चमत्कारक होते ही नहीं। जन साधारण को उनके कृत्यों में चमत्कार दिखाई देना तो स्वाभाविक है ही। पर उनको प्रकाश में लानेवाले विद्वान पुरुषों को चाहिए कि वे उनका चित्रण इस प्रकार करें कि अन्य लोगों को उसकी सत्यता में कोई भ्रम उत्पन्न न हो सके, जैसा गीता में कहा गया है—'न बुद्धि भेदं जनयेत् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्'।[१७]

---

१७. गीता ३।२६

(२) समाज-दण्ड—

इधर तुलसी को राज-दण्ड दिया गया, तो समाज-दण्ड से भी वे न बच सके। समाज-दण्ड राज-दण्ड से भिन्न होता है। तिरस्कार और अपमान समाज-दण्ड के प्रधान अंग रहते हैं। इसलिये समाज के जिस जिस विभाग की प्रचलित प्रथाओं में वे परिवर्तन करने की चेष्टाएं करते थे उस उस विभाग के पुरानी लकीर के फकीर उन्हें अपने कटु वचनों तथा दुर्व्यवहार द्वारा तिरस्कृत, बहिष्कृत अथवा दूसरे प्रकार से अपमानित करने में कसर नहीं रखते थे। पुरानी लकीर की फकीरी का विशिष्ट साम्राज्य देखने मिलता था, हिन्दुओं की जाति-पांति और छुआ-छूत की कट्टरता में। तुलसी के कतिपय कथनों से विदित होता है कि यही लोग उन्हें विशेषतर बुरी निगाहों से देखते थे और उनके प्रति दुर्व्यवहार करते एवं अपमान पूर्ण दुर्वचन कहा करते थे। परन्तु अपने इष्ट के सच्चे भक्त होने के कारण, अथवा दूसरे शब्दों में अपनी कर्त्तव्यनिष्ठता के कारण वे ऐसे लोगों से साफ साफ यह बता दिया करते थे कि हमें तुम्हारे व्यंग, दुर्व्यहार आदि की कुछ परवाह नहीं है। हमें किसी से अपने लिये कुछ लेना-देना नहीं है, हमें तो अपना कर्त्तव्य करते रहना है इत्यादि। इस सम्बन्ध में तुलसी के निम्न उद्गार उदाहरणों के रूप में पठनीय हैं—

(१) लोग कहैं, पोचु, सो न, सोचु, न संकोचु,
मेरे व्याहन बरेखी, जाति पांति न चहत हौं।
× × ×
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं॥[१८]॥

(२) धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न व्याहव काहू की जाति न बिगारों सोऊ॥
'तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहौ कछु कोऊ।
× × ×
लैबो को एक न दैबे को दोऊ॥[१९]॥

---

१८. विनय पत्रिका, ७६
१९. कवितावली उ० कां० १०६

(३) मेरे जाति-पाँति, न चहौं काहू की जाति पांति,
मेरे कोउ काम को, न हौं काहू के काम को।
× × ×
साधु कै असाधु कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं ? जो हौं सो हौं राम को ॥[२०]

(४) कोउ कहै करत कुसाज दगाबाज बड़ो,
कोउ कहै राम को गुलाम खरो खूब है।
साधु जानै महासाधु, खल जानै महाखल,
बानी झूठी सांची कोटि उठत हबूब है।
चाहत न काहू सौं, न कहत काहू की कछु,
सब की सहत उर अंतर न ऊब है ॥[२१]

तुलसी के उक्त कथनों से स्पष्ट हो जाता है कि वे अपने इष्ट 'सकलराम मय जानि' के प्रति कर्त्तव्य-निष्ठता के हेतु सब कुछ सहन कर सकते थे। वे जीवन पर्यन्त कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुए, न उनका कभी मन ऊबा और नाही उन्होंने कभी आवेश-वश विनम्रता और साधुता के स्थान में उद्दण्डता या उग्रता ग्रहण की। इसके विपरीत वे प्रीति-वश सदा मन में प्रसन्न ही रहते थे— 'प्रीति की प्रतीति, मन मुदित रहत हौं।'

---

२०. कवितावली उ० कां० १०७

२१. ,, ,, ,, १०८ (हबूब=बुलबुले)

तुलसी की क्रान्ति के परिणाम और निष्कर्ष

समीक्षकों में परिणामवादियों का आधिक्य :—

जब कोई आलोचक किसी भूतकालीन मनुष्य की आलोचना करने बैठता है तब वह उपलब्ध साहित्य में उसके कर्मों को टटोलता है। फिर वह उन कर्मों के कारणों और परिणामों पर अपनी दृष्टि दौड़ाता है। तत्पश्चात् वह उन परिस्थितियों का निरीक्षण करता है, जिनके अन्तर्गत कर्ता को कर्म करने पड़े और कर्म-फल बने। इन सब बातों को भलीभांति तौल लेने पर ही वह कर्ता के सम्बन्ध में अपना विचार निर्धारित कर यह बताने का साहस करता है कि वह समाज-सेवक कहा जाने योग्य था या नहीं। परन्तु इस तरह के समीक्षक प्रायः कम ही हुआ करते हैं। वे साधारण पुरुषों की नाईं उसके केवल कर्म-फलों को देखकर अपना मन्तव्य स्थिर कर डालते हैं। यदि उन्हें परिणाम अच्छा दिख गया तो उनकी दृष्टि में कर्ता ऊँचा बढ़ गया, और बुरा दिख गया या कुछ नहीं दिखा तो वह नीचे गिर गया। इस प्रकार की दूषित समीक्षा के कारण संसार का इतिहास अधूरा और गन्दा हो रहा है। एक तो, कई सच्चे-सेवकों का नाम ही उसमें नहीं आ पाता, और दूसरे, कुछ निम्नस्तरीय लोगों को उच्चकोटि में तथा कुछ उच्चस्तरीय लोगों को निम्नकोटि में बैठा दिया जाता है।

तुलसी की समीक्षा पर एक चलती नज़र—

तुलसी की समीक्षा भी पहले कई लोगों ने इसी प्रकार से प्रारम्भ की और उन्हें विस्मृति के बस्ता में बांध रखा, क्योंकि तुलसी ने राजदरबारियों आदि जैसे श्रीमानों की वाह-वाह लूटने की चिन्ता कभी नहीं की। कुछ

समय बाद जब अबुलफजल जैसे प्रसिद्ध आलोचकों का, जिन्होंने आइन-इ-अकबरी और अकबरनामा नामक ग्रन्थ तैयार किये थे, निकल गया, तब तुलसी कुछ कुछ प्रकाश में आये। परन्तु फिर भी सूरदास आदि से निम्न-स्तरीय ही देखे गये, और वह भी केवल कवि के रूप में, मानव के रूप में नहीं। तदनन्तर कहीं सैकड़ों वर्ष पीछे वह समय आया जब एक विदेशी समीक्षक जी० ए० ग्रियर्सन ने यह कहते हुए कि वह एक जीता-जागता मानव था (He was a man that had lived)[१] तथा वह एक व्यग्र संशोधक (enthusiastic reformer)[२] था, उन्हें उच्च-स्तर पर ले जाना प्रारम्भ किया। उसके बाद अब वह समय आ पाया जब हमने उन्हें एक व्यवहार-कुशल• विस्तृत क्षेत्रीय क्रान्तिकारी (A practical revolutionary of widened field) के रूप में देखना शरू कर दिया है, जैसा किसी पूर्वाध्याय में अन्य प्रसंग के समय हम कह आये हैं।

परिणाम-विषयक सैद्धान्तिक निदान:—

केवल कर्म-फलों की कसौटी पर कसकर तुलसी को परखनेवाले प्रथमकालीन समीक्षक यदि उन्हें ठीक ठीक न परख सकें तो उनका दोष इतना ही है कि उन्होंने कर्म-मीमांसा (Philosophy of action) पर ध्यान नहीं रखा। कर्म से सम्बन्धित अन्य अंगों को छोड़ केवल कर्म-फलों पर ही विचार कर देख लीजिये कि विषय कितना गहन है। हर कर्म का कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है, यह छोटे-बड़े सभी मानते हैं। परन्तु बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो इस बात पर ध्यान रखते हैं कि कुछ परिणाम प्रत्यक्ष और कुछ अप्रत्यक्ष होते हैं, तथा कुछ निकट से निकट समय पर प्रकट हो उठते हैं और कुछ अति दूर समय पर प्रकट होते हैं, यहां तक कि वे कर्ता की मृत्यु के उपरान्त भी अत्यन्त सुदूर काल में प्रकट होते रहते हैं।

१–२. गत अध्याय में नोट की हुई वही Imperial gazetteer p. 419.

इस तरह काल-क्रम की दृष्टि से एक ही कर्म के जो अनेक कर्म-फल होते हैं उनमें से कुछ तत्कालीन, कुछ तत्काल के पश्चात्, शीघ्र ही, कुछ उसके बाद कुछ देरी से दिखते हैं। इस तरह क्रम-बद्धतावश उनका तांता अत्यन्त दूर तक चलता रहता है। दृष्टान्त, 'क' ने 'ख' को मारा। 'ख' ने तत्काल 'क' को एक तमाचा गाल में झाड़ा। 'ख' रोता हुआ अपने घर पहुँचा। थोड़ी देर में 'ख' के माता पिता आये और 'क' को गाली-गलोज किया तथा मारने भी दौड़े। दूसरे दिन 'क' के मां-बाप और 'ख' के मां-बाप के बीच खूब लाठियां चलीं। इसके पश्चात् मामला बढ़ता गया और कुछ वर्षों बाद 'ख' ने 'क' का कत्ल कर दिया, और 'ख' फांसी पर लटका दिया गया, दृष्टान्त की यह एक संक्षिप्त झलक है। परन्तु उसीसे कर्म-फल-विषयक निम्न सिद्धान्तों का ज्ञान हो जाता है।

(१) परिणामों का एक तांता-सा चलता है जो काल-क्रम से प्रकट होता रहता है।

(२) परिणामों का भोक्ता केवल कर्ता ही नहीं होता, वरन् अन्य बहुत से लोग भी हो सकते हैं, अथवा यह कहिये कि समाज पर भी उनका प्रभाव पड़ता है।

(३) परिणामों की संख्या ज्यों ज्यों बढ़ती हुई अधिक विस्तृत होती जाती है, त्यों त्यों वे एक दूसरे से इस तरह गुथते चले जाते हैं कि सब के सब एक दूसरे के कारण, कार्य और फल बनते जाते हैं, और इसलिये जटिलता वश उनका प्रत्यक्षीकरण यथार्थ रूप में नहीं हो पाता।

(४) जो परिणाम जितने अधिक काल में उत्पन्न होता है। उसका प्रत्यक्षीकरण होना उतना ही कठिन और असम्भव होता जाता है।

(५) अति सुदूर कालीन परिणामों का, चाहे वे कर्त्ता की मृत्यु के पूर्व प्रकट हुए हों या उसकी मृत्यु के पश्चात विस्मृतिवश मूल-कर्म से असम्बन्धित देखा जाना स्वाभाविक सा हो जाता है।

तुलसी के क्रान्तिपन की परख के लिए चार बातों पर ध्यान—

'इसके अतिरिक्त अब किसी कर्मयोगी कृषक की ओर ध्यान ले जाइये, और देखिये कि उसके द्वारा यथाविधि कर्म किये जाने पर भी कभी कर्म-भूमि (पृथ्वी) की कठोरता और कभी बाह्य संयोगवश बीजोत्पति के रूप में उसके कर्म का परिणाम या तो बिलकुल ही प्रकट नहीं हो पाता, या होता है तो अति क्षीण रूप में। इस परिणाम-शून्यता या परिणाम-न्यूनता को देखकर यदि कोई कृषक ही को यह कहने लग जाय कि वह कर्म-योगी नहीं है तो इससे अधिक मूर्खता और क्या हो सकती है ? अतएव कर्म-शास्त्रियों ने व्यक्ति-विशेष की परख करने के लिए उसकी आन्तरिक भावना अर्थात् अन्तर्प्रेरणा की कसौटी को जो प्रधानता दी है वही ठीक है। उसी पर तुलसी ने 'तुलसी मन तें जो बने, बनी बनाई राम' कहकर आग्रह किया है। इसलिये निष्कर्ष यह हुआ कि तुलसी क्रान्तिकारी कर्मयोगी थे या नहीं, इसकी परख के लिये हमें निम्न क्रमानुसार निम्न बातों पर ध्यान देना चाहिये।

(१) जिस भूमि या क्षेत्र पर उन्हें कर्म करना पड़ा वह कितना कठिन, जटिल या सुगम था ?

(२) उनकी अन्तःप्रेरणा कैसी थी, स्वार्थमयी या परार्थमयी ?

(३) उन्हें कौन से संयोग प्राप्त हुए बाधक या साधक, और कौन किस मात्रा में ?

(४) उनके कृत्यों का परिणाम क्या, कितना, कब और किस रूप में हुआ ?

प्रथम तीन विषयों का प्रत्यक्षीकरण तो पाठकों को विगत पाठों से इस तरह हो गया होगा कि (१) तुलसी की कर्म-भूमि संकुचित और सुगम नहीं थी, वरन् विस्तृत और कठिन थी; (२) उनकी अन्तर्भावना साधु-प्रधान परार्थमयी थी; और (३) उन्हें बाधक वा साधक दोनों प्रकार के संयोग मिले, परन्तु दीर्घ कालीन रूढ़ियों और वैदेशिक दुर्नीतियों वा कुरीतियों

की गहरी जड़ें धस जाने के कारण बाधक संयोगों की अधिकता रही। अब रहा चौथा प्रश्न सो उस पर इस अध्याय में विचार करना शेष है।

चूंकि तुलसी की कर्म-भूमि जटिल और कठिन थी, और कर्म-संयोग अधिकतर बाधक थे, इसलिए कर्म-परिणाम शीघ्र स्पष्ट रूप से न देखे जाने के कारण प्रथमकालीन अनुसन्धानकर्ता भले ही तुलसी को केवल मालाधारी 'रामबोला' अथवा 'राम-स्याम-घन की चातक आस' वाला समझते रहे हों, परन्तु बाद के निरीक्षणों का, जिन्हें राज्य और समाज की गति-विधियों में सुधार के चिन्ह प्रकट होते हुए दिखाई देने लगे थे, अवश्य ही यह कर्त्तव्य था कि वे पूर्व में निर्धारित उक्त धारणा को बदल कर सिद्ध करते कि तुलसी निरा भक्त नहीं था और न 'कठमलिया कमंठ' वरन् वह था उच्च कोटि का कर्म-योगी ! यों तो तुलसी की साहित्यिक रचनाओं, विशेष कर रामचरित मानस में अध्ययनशील पाठक को इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, जैसा कि गताध्यायों में दिये हुए विवेचन से विदित हुआ होगा कि तुलसी यथार्थ में भक्ति-योग की छाप लगे हुए कर्म-योग के ही प्रकाशक थे। परन्तु जिन्हें न तुलसी की अन्तर्भावना से मतलब और न रचनाओं से उनके सन्मुख अब कुछ कर्म-परिणामों के ही प्रमाण प्रस्तुत करना लाभ-दायक होगा ।

तुलसी के क्रान्तिकारी कर्म-परिणामों के प्रमाण—

हनुमान चालीसा वा हनुमत्पूजा द्वारा सामान्यतः निर्भीकतात्मक हिन्दूजन-जागृति—

गत अध्याय में यह बताया जा चुका है कि तुलसी ने हनुमत्पूजा और हनुमान चालीसा के द्वारा सभय जनता में निर्भीकता का बीजारोपण कर दिया था। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों इन दोनों का प्रसार बढ़ता गया त्यों त्यों जन-जागरूकता का प्रसार होता गया। 'रामाज्ञा प्रश्न' तुलसी की उन कृतियों में से है जिनकी रचनाओं का तुलसी द्वारा किया जाना सर्व सम्मति से स्वीकृत है। इस 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना सं० १६२१ (सन् १५६५) बताई

जाती है, जैसा हम तीसरे अध्याय में बता आये हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार 'रामाज्ञा प्रश्न' की रचना के पूर्व तुलसी 'रामलला नहछू' और 'वैराग्य संदीपनी' की रचनायें कर चुके थे। इसलिये अनुमानतः 'रामलला-नहछू' की रचना सन् १५६० रख ली जाय तो कोई विशेष भूल न होगी। परन्तु स्वीकृत रचनाओं के अतिरिक्त छोटी-बड़ी सब मिलाकर लगभग २० कृतियां ऐसी हैं जिन्हें तुलसी की रचनायें मानने में सन्देह किया जाता है। उनमें से हनुमान चालीसा एक है। परन्तु राम ने गत अध्याय में उसे तुलसी ही की रचना बताई है, और यह कहा है कि वह सम्भवतः उनकी सर्व प्रथम रचना रही होगी। यदि सभी उक्त सन्देहात्मक रचनाएं तुलसी की ही हों और उनका रचना काल 'रामलला नहछू' के पहले इसलिये मान लिया जाय कि उनकी भाषादि स्वीकृत ग्रन्थों की भाषादि से निम्नस्तर की है, तो हनुमानचालीसा की रचना 'रामलला नहछू' की रचना के कम से कम १५ वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १५४५ के लगभग हुई होगी। उस समय तुलसी की अवस्था लगभग २२ वर्ष की रही होगी। हमारा यह अनुमान दो कारणों पर आधारित है। एक यह कि उस नवीन कार्य-कर्त्ता के लिए जिसे समाज में रहकर घर-बाहर की अन्य सामाजिक सेवाओं के करने में विशेष समय देना पड़ता था, २० ग्रन्थों के निर्माण करने में १५ वर्ष से कम का समय बताना कुछ असम्भव सा प्रतीत होता है। दूसरा यह कि समाज-सेवा की भावना का स्फुरण प्रायः २०-२२ वर्ष के नवयुवकों में बहुधा देखा जाता है। यों तो हनुमत्पूजा का प्रारम्भ तुलसी ने हनुमान-चालीसा के निर्माण के पहले ही से कर दिया होगा। किसी भी हालत में, हमारे पूर्वोक्त विचार-निर्धारण के अनुसार जब हनुमान चालीसा की रचना सन् १५४५ ही ठहरी और रामचरित मानस की रचना का प्रारम्भ स्वयं तुलसी के लेखानुसार सन् १५७५ (सं० १६३१) में हुआ तो यह निदान सहज ही निकल आता है कि तुलसी ने हनुमत्पूजा और हनुमान चालीसा का बीजारोपण मानस की रचना के ३० वर्ष पूर्व कर दिया था। धीरे-धीरे हनुमत्मन्दिरों में सैकड़ों हिन्दू एकत्र होने लगे और वहां धर्म और राजनीति से सनी हुई बातों पर

परस्पर चर्चाएं चलने लगीं, अखाड़े खोलने की योजनाओं पर विचार किया जाने लगा तथा वहीं एवं अन्यत्र हनुमानचालीसा के पाठ करते हुए सैकड़ों दिखाई दिये जाने लगे। इस तरह क्रान्ति का प्रसार करनेवाले मानस-ग्रन्थ की रचना समाप्त होते-होते तक हनुमत्पूजा और हनुमान चालीसा के पठन-पाठन के कारण जनता में पर्याप्त स्फूर्ति आ चुकी होगी, इसमें सन्देह नहीं। हनुमान चालीसा का प्रचार भले ही दक्षिण भारत में अथवा अन्य प्रदेशों में, जहां हिन्दी भाषा बोली-पढ़ी नहीं जाती थी, न हुआ हो, पर हनुमान पूजा का महत्व भारत के सब ओर उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

यदि यह शंका उठे कि क्या तुलसी के पूर्व में हनुमान जी देव के रूप में नहीं पूजे जाते थे तो उसका समाधान यह है। हनुमान पहले भी पूजे जाते थे। परन्तु तुलसी ने उसमें एक ऐसी विशिष्टता और नवीनता भरी कि मानो उसका प्रारम्भ उन्होंने ही किया हो। यही तो उन्होंने राम और शिव के चरित्र-चित्रण के विषय में भी किया है। यही सब प्रवीण लेखक और कर्मयोगी भी करते हैं। किसी पूर्वापर एक नवीन रंग चढ़ाकर उसे चित्राकर्षक बना देने का काम ही हर क्रान्तिकारी को करना पड़ता है। आखिर तिलक ने भी तो पूर्व में प्रचलित गणेश-पूजन पर गणेशोत्सव का एक विशेष रंग ही चढ़ाया था न ? यही क्रान्तिकारी गांधी ने किया और वही अब विनोबा भावे वर्तमान काल में कर रहे हैं।

(१) राज्य क्षेत्रीय प्रमाण--

(अ) दक्षिण भारत में--

इधर जब हनमत्पूजा और हनुमान-चालीसा के प्रभाव के कारण लोगों के मुख से उठते-बैठते 'जय बजरंग वली, तोड़ दे दुश्मन की नली,' की ध्वनि गुंजार करने लगी, तब उधर उसे नियंत्रित रखने के अभिप्राय से तुलसी ने एक विधि सोची; और वह यह कि रामचरित मानस की रचना में उसी हनुमान का चित्रण एक राम-पद-प्रेम में अनुरक्त विनीत सेवक के रूप में किया जाय। वही किया गया, और वह दुश्मनों की नली तोड़ने वाला बजरंग

धर्म-बद्ध-सशक्त हनुमान के रूप में झलकने लगा। इस प्रकार के धर्मवीर हनुमान की पूजा की प्रतिष्ठा बढ़ते-बढ़ते दक्षिण भारत में भी जाकर अंकुरित हो गई। वहां पर पहुँच उसने जागृत जनता में से उस वीर-रत्न शिवा जी (सन् १६२७-८०-ई०) को उत्पन्न किया, जिसने सम्राट् शाहजहाँ के शासन-काल में तुलसी की मृत्यु के केवल २२ वर्ष बाद ही सन् १९४६ में बीजापुर के सुल्तान के विरुद्ध टक्कर लेना शुरू कर दी। तत्पश्चात् वीर शिवाजी ने औरंगजेब जैसे शक्तिशाली सम्राट् के छक्के छुड़ाकर महाराष्ट्र-संघ का निर्माण कर दक्षिण में अपने आधीनस्थ' सन् १६७४ ई० में एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर डाली और निर्जीव हिन्दू जाति में सजीवता का पुनः संचार कर दिखाया।

शिवाजी में इस वीरता और राष्ट्रीयता को भर देने का श्रेय प्रायः एक मत से प्रधानतः उनके गुरु समर्थ रामदास को दिया जाता है। रामदास जी स्वयं राम और हनुमान के उपासक थे। स्वामी रामदास जी, डा० ईश्वरीप्रसाद के शब्दों में, न केवल धर्मोपदेशक ही थे, वरन् राष्ट्र-निर्माता भी थे।....वे अपनी सारी आत्मोत्तेजना और आत्माग्नि (Passions and fire) के द्वारा अपने शिष्यों को इसलिये प्रोत्साहित करते रहते थे कि वे अपनी शक्तियों का प्रयोग राष्ट्र-शक्ति की वृद्धि के कार्य पर अर्पित कर दें।....आखिरकार उन्हें अपनी इष्टपूर्ति के हेतु धीसम्पन्न शिवा जी मिल ही गया।"[३] इन्ही समर्थ गुरु रामदास के विषय में डा० दीक्षित लिखते हैं कि उन्होंने "दक्षिणापथ के ग्राम-ग्राम में मारुति-मन्दिर की स्थापना करके महात्मा तुलसीदास का अनुगमन किया है, इसे इतिहास प्रेमियों और अनुसन्धायकों को देखने, समझने और इसकी छान-बीन करने में प्रवृत्त होना चाहिये।"[४]

समर्थ रामदास का जन्म रामचरित मानस की रचना के लगभग २०

---

३. History of India, पृ० ७४५-४६

४. तुलसीदास और उनका युग पृ० ५०-५१

वर्ष बाद सन् १५९८ ई० में हुआ और उनका देहान्त शिवाजी की मृत्यु के केवल एक वर्ष बाद सन् १६८१ में हुआ।[५] इससे प्रतीत होता है कि रामदास जी अपने शिक्षण-काल ही में तुलसी की हनुमत्पूजा और राम-चरित मानस के विषय में पर्याप्त सुन चुके होंगे। उन्हें तुलसी की साधुता और कर्मठता के भी उसी समय से कुछ न कुछ समाचार मिलते रहे होंगे, क्योंकि भाषा-ऐक्य न होने पर भी दक्षिण भारत और उत्तर-भारत में भौगोलिक तथा ऐतिहासिक ऐक्य तो था ही। समर्थ रामदास पर तुलसीदास का प्रभाव पड़ा, यह सुनकर सम्भव है, किसी भाई के अहंकार-भाव को ठेस पहुँचे, और हमारे उक्त विचार का विरोध कर यह कहे कि यदि प्रभाव की बात ही करना है, तो यही क्यों न माना जाय कि उन पर वैष्णव-मती, मरहठी-भाषी तथा महाराष्ट्र-वासी एकनाथ जी और तुकाराम जी का प्रभाव पड़ना अधिक सम्भव है। न कि तुलसीदास जी का जो न केवल उत्तर-विभाग के वासी ही थे, वरन् हिन्दी-भाषी भी थे। हमारे कहने का प्रयोजन यह नहीं है कि श्रीरामदास जी केवल तुलसी-मुहर छाप थे। न हम यही कहते कि उन पर किसी अन्य वैष्णवी का प्रभाव नहीं पड़ा। मानव तो स्वकीय शक्तियों और परकीय प्रभावों का मिश्रण-मात्र हुआ ही करता है। उसका चित्तपट अनेक प्रभावों से रंजित होता ही रहता है। फिर भी कुछ ऐसे तथ्य हैं जिन्हें देखकर हमें यही प्रतीत होता है कि तुलसीदास के आचार-विचारों का ही रामदास जी पर विशेष प्रभाव पड़ा होगा। उन्हीं का यहां संक्षिप्त विश्लेषण कर लेना उपयुक्त होगा।

(१) सबसे प्रथम चारों के जीवन-कालों पर तुलनात्मक दृष्टि से देखिये। ईस्वी सन् के अनुसार वे इस तरह हैं—

---

५. नोट—यदि मानस की रचना का समय तीन-वर्ष रखा जाय तो रामदास का जन्म २० वर्ष बाद कहा जा सकता है। मानस का प्रारम्भ सन् १५७५ में हुआ था।

तुलसीदास —सन् १५३२–१६२३
एकनाथ —सन् १५२८–१५९८
रामदास —सन् १५९८–१६८०
तुकाराम —सन् १६०८–अज्ञात [६]

चूंकि एकनाथ का उसी वर्ष स्वर्गवास हो चुका था जिस वर्ष रामदास का जन्म हुआ था इसलिये रामदास को एकनाथ की प्रत्यक्ष जीवनी की अनुभूति वा प्रख्याति जानने का प्रत्यक्ष कोई अवकाश नहीं मिला। इसके विपरीत तुलसी से बहुत छोटे होने तथा बहुत काल तक उनके समकालीन होने के नाते उन्हें दूर रहते हुए भी तुलसी की प्रत्यक्ष जीवनी की आभा-रश्मियों का प्रकाश प्राप्त करते रहने का अवकाश था। यह सर्व स्वीकृत विषय है कि अनुमान की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रभाव अधिक प्रभावोत्पादक होता है, जो रामदास जी के सम्मुख तुलसी की जीवनी के रूप में प्रस्तुत हो रहा था। अब रही तुकाराम जी की बात सो वे रामदास से १० वर्ष छोटे थे। इस १० वर्ष की जेठाई के कारण यह स्वाभाविक है कि जब तुकाराम को कुछ बौद्धिक शक्ति आई होगी उस समय तक रामदास जी (मान लीजिये जब वे २० वर्ष के थे तब) काफी प्रभावित हो चुके होंगे। इस तरह दोनों के ज्ञान में उसी क्रम से घट-बढ़ मान लेना अतार्किक न होगा, विशेषकर इसलिये कि रामदास स्वयं की गणना स्वाभाविक प्रगतिवान ज्ञानियों में थी, और तुकाराम की गणना केवल एक परिव्राजक भक्त (Wandering devotee) की थी। तुकाराम तत्कालीन शूद्र जाति के थे। छोटी सी दुकानदारी करते थे। जब रोजगार-धन्धा में असफल रहे और कौटुम्बिक सम्बन्ध भी स्नेह-हीन हो गया तब वे वैरागी हो पन्ढरपुर के विट्ठल अथवा विठोवा के, जो कृष्ण के ही पर्यायवाची नाम थे, भक्त हो गये, और यहां-वहां भ्रमण करने लगे तथा अपने प्रभु के गुण-गान में 'अभंग' भजनों की रचना करते

---

६. सन् १९३३ई० की महाराष्ट्र सांवत्सरिक, पुणें (काल गणना) तथा अन्य इतिहास के आधार पर।

रहे।[७] तुकाराम जी जैसे भजनीक भक्त बनना एक बात है, और रामदास जी जैसे व्यवहारी भक्त होना दूसरी बात है। इस दृष्टि से तुकाराम का रामदास पर प्रभाव पड़ा होगा, यह मान्य नहीं हो सकता। हमें तो यहां तक प्रतीति होती है, सम्भव है हम भारी भूल करते हों, कि चूंकि एकनाथ जी की मृत्यु मानस-रचना की समाप्ति के लगभग २० वर्ष पहले नहीं हुई इसलिये वे स्वयं तुलसी की जीवनी वा विचार-धारा से प्रभावित हो चुके थे। इसी कारण से, हमारी समझ में उन्होंने अपने कुछ ग्रन्थ हिन्दी (हिन्दुस्तानी) भाषा में रचे होंगे, जैसा कि डा० ग्रियर्सन सा० के इस वाक्य से ज्ञात होता है— Eknath who wrote also in Hindustani...........composed several vaishnava works[८]।

इस तरह जीवन-कालों पर तुलनात्मक दृष्टिपात करने से सामान्यतः यही अनुमान लगता है कि रामदास पर तुलसी ही का विशिष्ट प्रभाव पड़ा होगा।

(२) उपासना की समता की दृष्टि से भी यही निदान निकलता है। रामदास हनुमानोपासक थे ही जैसा ऊपर कह आये हैं, पर वे रामोपासक भी थे, जैसा कि ग्रियर्सन सा० लिखते हैं—""Ramdas was a devotee of Rama,"[९]

कृष्णोपासना और रामोपासना में और नहीं तो कम से कम रुढ़िदृष्टि से एक प्रधानभेद यह है कि प्रथम में क्रीड़ात्मक जीवन की, और द्वितीय में कर्त्तव्यात्मक जीवन की साधना रहती है। इस तरह काल-गति के तकाजे के अनुकूल दोनों राम और हनुमान के उपासक थे।

(३) तुलसी और रामदास दोनों में एक समान क्रान्तिकारी भावनाओं के पाये जाने से भी वही बात सिद्ध होती है। दोनों कर्म-प्रधानवाले थे।

---

७. Imperial gazetteer (Vol. 12) ४२४ के आधार पर

८. वही पृ० ४३१

९. वही पृ० ४३१

दोनों समाज में निर्भीकता और कर्त्तव्य-परायणता लाने के लिए उद्यत थे। रामदास किस तरह अपने शिष्यों और शिवाजी को यह शिक्षा देते थे वह पहले कहा ही जा चुका है। शिवा जी पर उनका तो यहां तक प्रभाव पड़ा कि उच्चशिक्षा प्राप्त हुए बिना भी उसने रामायण और महाभारत के कथनों को घोल कर पी लिया था, जैसा कि डा० ईश्वरीप्रसाद ने निम्न वाक्य में व्यक्त कर दिखाया है—

"All evidence tends to confirm the view that Shivaji never received like Akbar formal instruction in letters, but he assimilated with great zeal the contents of the Ramayan and the Mahabharat."[१०]

अर्थात् समस्त साक्ष्य से यही विचार दृढ़ होता है कि शिवाजी को यद्यपि अकबर के समान ऊपरी आक्षरिक शिक्षा कभी नहीं मिली, तथापि उसने बड़े उत्साह से रामायण और महाभारत के भण्डार को रचा-पचा डाला था।

यह रामायण हमारी समझ में तुलसीकृत ही होना चाहिये, क्योंकि मरहठी रामायण, जहां तक हमें ज्ञात है, उस समय कोई थी नहीं, और मूल संस्कृत में लिखी जाने तथा विस्तृत होने के कारण वाल्मीकि रामायण का चलन सर्व साधारण में समाप्त ही था। इसके विपरीत तुलसी कृत रामायण की उस समय तक पर्याप्त रूप से प्रख्याति हो चुकी थी, और चूंकि समर्थ गुरु रामदासजी के हृदय में तुलसीदास ने काफी ऊंचा स्थान बना लिया था। इसलिये वे उस समय तक तुलसी की उस प्रख्यात-विशद् रचना से परिचित न हो पाये हों यह मानने योग्य बात नहीं है। महाराष्ट्र ही के कतिपय विद्वानों के लेखों से विदित होता है कि तुलसी ने दक्षिण में भी बड़ा गहरा घर बना लिया था। मरहठी रामायण के सर्व प्रथम रचयिता महाराष्ट्र-कवि मोरोपन्त (सन् १७३०-९५) ने तुलसी की प्रशंसा में यह लिखा है—

---

10. History of India. pp. 746-47

"श्रीवाल्मीकि चि झाला श्रीतुलसीदास राम यश गाथा।
तरिच प्रेम रसाची खाणी बाणी तशीच यश गाथा॥"

[अर्थात् 'श्रीरामचन्द्र जी का यश गाने के लिये ही श्री बालमीकि तुलसीदास हुए, तभी तो ऐसी प्रेम रस से भरी वाणी की खान उनके वश हुई।]"[११]

मानस-हंस के लेखक श्री यादवशंकर जामदार का कहना है कि "श्री समर्थ रामदास महाराज जी की 'दास बोध' के पहले लोक शिक्षा का पक्ष ऐसी उच्चता से उठानेवाला तुलसी रामायण के अतिरिक्त अन्य कोई भी ग्रन्थ निर्माण हुआ ही न था, ऐसा अब कोई भी निश्चय से कह सकेगा।"[१२]

इससे सहज ही यह सम्भावित दिखता है कि 'दास-बोध' लिखने पूर्व रामदास जी तुलसी और उनकी रामायण से प्रभावित हो गये थे। मानस हंस के हिन्दी-अनुवादक महोदय तो इसी बात को बिलकुल स्पष्ट शब्दों में कह देते हैं। उन्होंने लिखा है "श्री समर्थ रामदास जी को श्रीहनुमान जी का अवतार मानने की दक्षिण में प्रथा है।" इसके आगे लेखक ने गोसाईं जी की कुछ प्रशंसा की है और उसी सिलसिले में आप फिर लिखते हैं कि "उनकी करुणा इतनी द्रावक है कि मनुष्य और देवताओं की कथा ही क्या, निर्जीव पदार्थ तक पसीज जावें। तो क्या ऐसे भक्तों के हार्दिक विलाप खाली हो गये होंगे? यदि नहीं तो श्री तुलसीदास जी ही श्री समर्थावतार का कारण हुए तो आश्चर्य ही क्या?"[१३] ये उद्गार सं० १९८३ (सन् १९२७) में एक योग्य महाराष्ट्री लेखक के हैं। प्रतीत होता है इस समय तक तत्सम्बन्धी वाद-विवाद पर्याप्त हो चुका होगा और विद्वान जनता में साधारणतया उक्त लेखक जैसी भावना बन चुकी होगी।

---

११. मानस-हंस अथवा तुलसी रामायण रहस्य (हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ १
१२. " " वही (प्रस्तावना) पृ० २-३
१३. मानस-हंस अथवा तुलसी रामायण रहस्य (हिन्दी अनुवाद के चार शब्द) पृष्ठ १०

तात्पर्य यह निकला कि दक्षिण भारत में समर्थ गुरु रामदास की अध्यक्षता तथा उनके शिष्य शिवाजी की नायकी में—स्वतंत्रता की जो क्रान्ति उठीं वा जिसके फलस्वरूप महाराष्ट्र-राज्य की स्थापना हुई, उसके मूल में तुलसी के आचार-विचार का ही विशेष हाथ था, क्योंकि वे गुरु रामदास के जन्म के काफी पहले से उस काम में जुट गये थे, जो लोग इस तत्व को समझते हैं कि कर्मफलों का प्रत्यक्षीकरण निकट से निकट और दूर से दूर समय पर हुआ करता है, जैसा हम पहले कह आये हैं, वे अब निश्चयरूप से मान लेंगे कि तुलसी सामाजिक ही नहीं, राजनैतिक क्रान्तिकारी भी थे, और उनकी वह क्रान्ति छूंछी नहीं निकली। राजनैतिक भूमि में उसका एक बड़ा प्रत्यक्ष फल उनकी मृत्यु के बाद ही प्रकट हुआ, जिसका उपभोग दक्षिण भारत के लोगों ने किया।

(ब) उत्तर-भारत में

इससे यह न समझा जाय कि उत्तर-भारत की राजनैतिक भूमि उक्त क्रान्ति के फल से वंचित रही। वहां भी एक बड़ा फल लगा, और यद्यपि उसको फूट निकलने में दुगुना समय लगा तथापि वह दक्षिणी भारत में निकले हुए फल से अधिक महायशशाली था, जैसा आगे बतावेंगे। अभी उसकी उत्पत्ति और रूप के विषय में ही जानना आवश्यक है।

मुसलमान राजाओं की पक्षपात, असूयात्मक (Envious) वा असह्यात्मक (intolevant) नीति के कारण तुलसी का मन तिलमिला उठा था, इसलिये उन्होंने करुणाश्रुओं द्वारा जन-जागृति करना प्रारम्भ कर ही दिया था, यह पाठक जानते हैं। उनका वह सन्देश क्रमशः ग्राम-ग्राम में साधारण जनता के बीच फैलता जा रहा था, यह भी विदित हो गया है। यही चिनगारी सन् १६६९ ई० में औरंगजेब की पक्षपाती, असूयात्मक तथा असह्यात्मक नीति के कारण साधारण से लोगों में इस तरह भभक उठी कि उसका बुझाना औरंगज़ेब की बादशाही सेना को बड़ा कठिन हो गया। औरंगजेब ने कुछ करें तो अकेले हिन्दुओं पर लगाईं और कुछ

मुसलमानों की अपेक्षा उनसे दुगुने वसूल किए जाने लगे। राजपूतों को छोड़ किसी दूसरे हिन्दू को पालकियों, हाथियों या घोड़ों पर सवार होना या सशस्त्र फिरना मना कर दिया। जो हिन्दू मुसलमान हो जाता था उसे न केवल राज्य-खजाने से पारितोषक दिया जाता था, वरन् किसी राज्य विभाग में उसे नौकरी भी दी जाती थी। इतना ही नहीं, उसे हाथी पर बैठालकर बड़े सज-धज वाजन-समूह के साथ शहर की सड़कों पर घुमाया जाता था। इतना हीं नहीं, उसने देव-मूर्तियों वा देवालयों को भग्न करना प्रारम्भ किया तथा बनारस-स्थित विश्वनाथ मन्दिर तथा मथुरा-स्थित केशवराय-मन्दिर को तुड़वाकर नष्ट भ्रष्ट कर डाले।

जब मथुरा के मन्दिर तोड़े जाने की खबर देहात में पहुँची तो मथुरा के निकट रहने वाली कृषक जाट-जाति का हृदय दहल उठा और वह एक गोकल जाट की नायकी में अत्याचारों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। मथुरा का अत्याचारी फौजदार मार डाला गया और मामला इतना बढ़ गया कि औरंगजेब को कई सेनाधिपतियों को उनका मुकाबला करने भेजा गया। अन्त में गोकल पकड़ा गया, उसकी बोटी-बोटी काटी गई और उसके कुटुम्बियों को जबरन मुसलमान बनाया गया। इस उपद्रव को शमन करने में एक लेखक का कहना है, "४००० बादशाही सैनिकों को मृत्यु मुखी होना पड़ा था।"[१४] जो भी हो, पर जाट चुप न रहे। गोकल का खून आखिरकार मुगल बादशाहत का अन्त करके ही रहा। वे बार-बार सन् १६८१, १६८६, १६८८ और १६९१ में उठे और हर बार खूब मरते-मारते रहे। अन्त में चूरामन जाट औरंगजेब के अन्तकाल तक लड़ता रहा। औरंगजेब के मरने के बाद जाट बहुत शक्तिशाली हो गये और उन्होंने मुगल बादशाहत को समाप्त करने कराने में बड़ा गौरवपूर्ण भाग लिया।[१५] गोकल का खून बहा, पर वह खून बहाने वाले धर्मान्ध-आसुरी राज्य को भी बहाकर ले गया। उसका शरीर

---

१४. देखो (सन् १९३३ की) महाराष्ट्र-सांवत्सरिक (काल-गणना) पृ० ३५

१५. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत History of India के आधार पर

चला गया, पर आज भी आगरा की राजामण्डी स्टेशन के पास 'गोकलपुरा' नाम का मुहल्ला उसके यश का स्मरण कराता है।

उक्त विरोध तुलसी की मृत्यु के ४६ वर्ष बाद उठा और वह भी तब, जब औरंगजेब की दुर्नीति अत्यन्त असह्य हो गई। ऐसी स्थिति में यह पूछा जाना अस्वाभाविक न होगा कि उसका श्रेय तुलसी को क्यों दिया जाता है। वह इसलिये दिया जाता है कि मुसलमानी युग में अत्याचार-जनित दुखों से निवृत कराने के लिए तुलसी ही एक ऐसा सर्वप्रथम महात्मा था जिसने विरक्ति अथवा उदासीनताप्रधान भक्ति के स्थान में कर्मप्रधान राम-भक्ति-योग की प्रतिष्ठा की। दूसरे शब्दों में, उन्होंने जनता की आंख उन प्रचलित मतों से हटाई जो संसार के यथार्थ के प्रति उदासीन और विरक्त बनाकर सुखानुभूति की बात किया करते थे। एक तो लोग यों ही डरे वा दबे हुए थे, और दूसरे उन्हें वैराग्य, भक्ति आदि चित्ताकर्षक शब्दों के द्वारा दुःख-निवृति का मार्ग गलत बताया जा रहा था, इसलिये यह स्वाभाविक था कि जन-मत को बदलने में तुलसी को काफी लम्बा समय लगा होगा। जिस क्षेत्र में भयंकर शेर का निवास हो वहां स्यारों को शेर बनाना कितना कठिन काम है, इसे पाठक स्वयं समझ लें। तुलसी को जिस उत्तर क्षेत्र में कार्य करना पड़ रहा था उसकी कठिनाई किसी से छिपी नहीं है। मुगल-सम्राटों के चारो ओर फैले हुए आतंक के समीप तथा मुसलिम जनता के बीच रह कर उन्हीं के विरुद्ध उपरोक्त प्रकार के डरे-दबे गुमराह लोगों को कुछ कहना, तथा उनसे न्यायानुरूप भिड़ने के लिए उन्हें उद्यत करना क्या दो-दस दिन का काम था? सन् १९४७ ई० में हिन्द-स्वराज्य की देख यदि कोई गांधी ही की पुकार करता हुआ कांग्रेस के प्रथम स्थापक ह्यूम या दादाभाई नौरोजी आदि को भूल जाय तो उससे उसकी विस्मृति ही को दोष है। उससे कुछ मूल कार्यकर्ता का श्रेय नहीं घटता। इसी तरह यदि कोई प्रयाग में गंगा-स्नान करते समय गंगोत्री को भूल जाय तो क्या गंगोत्री का महत्व घट सकता है? मूल पर ध्यान रखनेवाला तो यही कहता है कि यदि गंगोत्री नहीं होती तो गंगा ही कहां से आती। इसलिये चाहे जितना कालान्तर,

स्थानान्तर अथवा दशान्तर क्यों न हो जाय मूल का महत्व सदैव ऊंचा ही रहता है। इसीलिये तुलसी श्रेय के पात्र हैं। यदि उन्होंने जन-साधारण में धर्म-भावना न भरी होती और निर्भीकतापूर्ण कर्त्तव्य-पाठ न पढ़ाया होता तो सम्भव है भोली कृषक जाट जाति भी सूफियों या कबीरियों की सैद्धान्तिक सुख की मुद्रा लगाये बैठी रहती और कदाचित् मुगलशाही का अन्त भी कठिनाई वा विलम्ब से होता।

दक्षिणी और उत्तरीय क्रान्ति में भेद—

ग्रामीण भोली-भाली अपढ़ जनता में, साम्राज्य-आतंक के मध्य, धर्म-रक्षा की भावनाओं के उठने, तथा प्राण-पण से आसुरीवृत्तिवालों के विरुद्ध निर्भय होकर सहस्रों की संख्या में उठ खड़े होने का जो प्रदर्शन उक्त विद्रोह के समय हुआ या होता रहा उसी को ध्यान में रख हमने पाठकों से ऊपर कहा था कि दक्षिण-भारत की क्रान्ति की अपेक्षा उत्तर-भारत की क्रान्ति अधिक महत्वशालिनी है। दक्षिण में जो कार्य हुआ वह यद्यपि स्वतंत्रता के लिए हुआ तथापि उसका स्वरूप प्रायः पूर्व पक्ष जैसा था जिसके अनुसार एक राजा, सरदार या जागीरदार दूसरे ऐसे ही सत्ताधारी के विरुद्ध अपने बल को अजमाया करता था। इस तरह की उठी हुई क्रान्ति में स्वतंत्रता की भावना अर्न्तनिहित रहने पर भी वह जनतंत्रीय आदर्श नहीं रहता जिसे आज का परिणामवादी श्रेष्ठ समझता है। वीजापुर-राज्य के आधीनस्थ काफी बड़ी जागीर के मालिक शाह जी राजा के पुत्र होने के कारण शिवाजी को पहिले ही से राज्य-स्वामित्व का लाभ प्राप्त था। इसलिये रामदास जी के शिवाजी प्रधानतः स्वतंत्र-राज्य-स्थापना की भावना से प्रेरित हुए थे। परन्तु उत्तर-भारत का उक्त विरोध जन-साधारण में केवल अन्याय-रोक तथा धर्म-रक्षा की भावना से प्रेरित हुआ था और उसी भावना से वह कई वर्षों तक संगठित रूप में चलता ही रहा। यह दूसरी बात है कि कुछ काल बीतने पर क्रान्तिकारियों ने अपने किसी एक योग्य वीर नायक को अपना संगठन बनाये रखने तथा अपने धन-जन को रक्षित रखने के अभिप्राय से अपना एक

भूमाधिपति बना लिया हो। जाटों के भरतपुर राज्य की नींव का यही कारण है।

तुलसी किस परिश्रम वा चतुरता से ग्रामीण जनता में जाग्रति ला सके इसके विषय में हम पहले कुछ प्रकाश डालते समय यह कह आये हैं कि उन्होंने सर्वप्रथम हनुमत्पूजा वा हनुमान चालीसा का प्रचार किया। चूंकि उत्तर-भारत हिन्दी-भाषा-भाषी भाग है, और चूंकि हनुमान चालीसा की रचना अति सूक्ष्माकार में हिन्दी में की गई थी, इसलिये उत्तर-भारत की सरल-चित्त जनता में, विशेष कर ग्रामीण जनों में, हमारे अनुमान से, हनुमान चालीसा के नित्य पाठ ने जन-जागृति लाने में विशेष भाग लिया होगा। जब हम आज भी चार सौ वर्ष पश्चात् साधारण से मनुष्य को नहाने के पश्चात् कपड़ा पहनते-पहनते पांच-दस मिनट में सपाटे से हनुमान चालीसा का नित्य प्रति पाठ करते देखते हैं तो हमारे मन में तत्काल पूर्वोक्त धारणा उठ बैठती है। आज के युग में भले ही उसमें तोता-रटन जैसी निरर्थकता की प्रतीति हो, पर तुलसी-युग में तथा उसके पश्चात् काफी लम्बे काल तक उसमें उसी प्रकार सार्थक उत्साह रहा होगा जिस प्रकार हर नवीन संयोग के समय अथवा नव-निर्मित संस्था के नव-विधानों या नव-योजनाओं में रहा करता है। मथुरा जैसे प्राचीन प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान के आस-पास रहने वाली धर्म-प्रिय भोली, पर कट्टर ग्रामीण जनता पर तुलसी के जीवन-काल में तथा उसके पश्चात्, रामकथा, मानस-पठन और हनुमान चालीसा के नित्य पाठों ने, जो प्रभाव डाला, वही समय पाकर हमारी दृष्टि में क्रांति के उक्त प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हो गया।

इतिहास-लेखकों का कर्तव्य —

जब किसी राज्य के कुकर्मों के कारण उसके विरुद्ध कोई जन-आन्दोलन उठता है तो राज्य-पक्षवाले उसे बदनाम करने के लिये गदर (mutiny) बलवा या विद्रोह (rebellion) आदि बुरे नाम दिया करते हैं, और प्रायः सभी इतिहास लेखक भी ऐसे ही नामों से उसका संकेत करते हैं।

विरला ही उसे जन-आन्दोलन या जन-क्रान्ति कहकर पुकारता है। यह साहस भी उसे उस समय आता है जब वह सत्ताधारी राज्य या तो चल बसता है। या जब उसके विरुद्ध काफी चहल-पहल फैल जाती है। इतिहास इस प्रकार के प्रमाणों से भरा पड़ा है। सन् १८५७ में भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध उठी हुई जन-लहर का बहुत काल तक ग़दर या बलवा कहाते रहना सहस्रों दृष्टान्तों में से एक है। इसी प्रकार औरंगजेब के विरुद्ध उठे हुए उपरोक्त आन्दोलन को इतिहासकार आज तक बलवा या विद्रोह (rebellion) कहते चले आ रहे हैं। इस प्रकार के इतिहासकार हमारी समझ में धर्म-संस्थापनार्थ जन-जागृति के बाधक या घातक होते हैं। भाषा-भाव का सम्बन्ध घनिष्ठ होने के कारण इस प्रकार के शब्द नवयुवक विद्यार्थियों में धर्म के प्रति कर्त्तव्यारूढ़ होने की उच्च भावनाओं को नहीं पनपने देते। यद्यपि यह सत्य है कि शासन-पक्ष के दृष्टिकोण से इस प्रकार के जन-आन्दोलनों को विद्रोह, बलवा या गदर कहा जा सकता है, तथापि इतिहासकार का कर्त्तव्य यह होता है कि वह उनका निरीक्षण वा वर्णन समाज के दृष्टिकोण से करे, ताकि वाचकों और श्रोताओं में समाज-सेवा के प्रति रुचि और उत्साह उत्पन्न हो।

परिणामवादी के लिये दूरदर्शिता की आवश्यकता—

यदि एक ओर सत्ताधारी, सत्ता के पक्षकार तथा उक्त प्रकार के इतिहासकार जन-आन्दोलन के प्रवाह को बढ़ने में रुकावट डालते हैं, तो दूसरी ओर परिणामवादियों में भी उक्त दोष की कमी नहीं रहती। हमारे पूर्व में कथित कर्म-फल-विषयक विवेचन से यह तो ज्ञात हो ही गया होगा कि परिणामवादी संकुचित दृष्टा होता है—न तो वह व्यापकदर्शी होता और न दूरदर्शी। इस दोष के कारण वह बड़ा निराशावादी रहता है। जहां और जब कभी आन्दोलन-प्रवाह किसी कारण से अवरुद्ध हुआ वहां वह यह समझने लगता है कि वह आन्दोलन असफल होकर समाप्त हो गया। परन्तु यथार्थ बात कुछ और ही होती है।

क्रान्ति-मार्ग कुछ राज-महल-मार्ग जैसा सोना-चांदी से पटा हुआ एकदम सीधा नहीं होता। वह भीषण पहाड़-मार्ग जैसा एड़ा-टेढ़ा, ऊँचा-नीचा, खावर-खूबर रहता है, जिस पर क्रान्ति-धार के समान कभी प्रकट कभी गुप्त रूप में, कभी सर्राती हुई कभी शिथिल गति से बहती रहती है। जब तक इस ऐतिहासिक नियम पर ध्यान नहीं रखा जाय तब तक परिणाम-वादी तुलसी की क्रान्ति की सफलता और असफलता का लेखा नहीं लगा सकता। यह देखकर कि उक्त क्रान्ति की गति को औरंगजेब ने पूर्व में उल्लिखित अपनी पक्षपूर्ण दमनकारिणी, अपमानजनित, धर्म-विरोधिनी तथा साम्प्रदायिक कट्टरता से भरी हुई दुर्नीति के द्वारा एक भारी धक्का देकर कुछ काल के लिए अवरुद्ध कर दी थी, यदि कोई परिणामवादी यह सोचे कि तुलसी के द्वारा प्रारम्भ की हुई उस क्रान्ति का अन्त हो चुका था, तो यह भारी भूल होगी। यदि उसका अन्त हो गया होता, अथवा उसकी अग्नि बिलकुल बुझ गई होती तो गोकल जैसे ग्रामीण भोले भाइयों में वह प्रचण्ड धर्म-भावना और निर्भीकता कहां से आ गई होती जिसने अत्याचारी मुगल-शासन को समाप्त करके ही दम ली।

गहरी जड़ जमे हुए अत्याचारी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए सैकड़ों वर्ष लग जावें तो कोई आश्चर्य नहीं। तुलसी के द्वारा आरोपित क्रान्ति में यह फल लगा, पर वे स्वयं उसे न देख सके। क्रान्तिकारियों का इतिहास उठाइये और देखिये कि कितने ऐसे क्रान्तिकारी हैं जिन्हें अपने ही जीवन में अपनी क्रांन्ति का अन्तिम उद्दिष्ट फल देखने मिल गया हो। किसी षड्यन्त्र या सैनिक बल के द्वारा अपने ही जीवनकाल में किसी राज्य का तख्ता-मात्र पलटाकर एक दूसरा राज्य स्थापित कर देना सच्ची क्रान्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें केवल रूप-परिवर्तन हो पाता है, विचार-धारा पूर्ववत् किसी दूसरे रूप में दूषित बनी ही रहती है। जिस क्रान्ति का मूल उद्देश रहता है कि समाज में प्रचलित पाशविकता के स्थान में मानवता लाई जावे और वह भी केवल मानवीय (साधु) साधनों के द्वारा, उसके कार्य-क्रम की अवधि बहुत लम्बी होती है। तुलसी की क्रान्ति का यही उद्देश था। इसीलिये

वे उसका उद्दिश्य फल न देख सके, और न वे उसे देखने के लिए कभी लालायित ही रहे, क्योंकि वे परिणामवादी न थे। वे थे अनासक्त कर्मवादी अर्थात् आत्मसमर्पी भक्त। कर्म पर उनका अधिकार था फल पर नहीं।

विवश अथवा लोभ-वश किये जाने वाले निन्द्य कर्मों का हिन्दू राजाओं में त्याग —

फिर भी राजनैतिक क्षेत्रीय कुछ छोटे-मोटे फल क्रान्तिकारी तुलसी को अपने जीवन-काल ही में देखने मिले। इन फलों में से सर्व प्रथम एक विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है। आठवें अध्याय में उस भाग को पुन: पढ़ लीजिये जिसमें हमने राजपूत राजाओं की उस मानसिक अधोगति का वर्णन किया है जिसके कारण वे अपनी बेटी-बहिनों को बादशाह अकबर और जहाँगीर को उनके साथ विवाह करने के लिये सौंप देते थे। इसका प्रारम्भ आमेर (जयपुर) के राजा बिहारीमल (भारमल) ने सन् १५६२ में उस समय किया जब उन्होंने लोभ-वश अपनी पुत्री जोधबाई को अकबर के हवाले कर दी। उनकी देखा-देखी अन्य राजाओं ने भी वही किया। ये हिन्दू जाति, विशेषकर क्षत्रित्व पर महान कलंक का टीका लगानेवाले दुष्कृत थे। राजपूत राजाओं में नामर्दी सी छा गई और धड़ाधड़ सब के सब, केवल मेवाड़ को छोड़कर अकबर का आधिपत्य स्वीकार करते गये। तुलसी ने इस प्रकार के घृणित कार्यों की बड़ी कड़ी आलोचनायें की होंगी, ऐसा उनके कतिपय कथनों से जिनमें से कुछ का हम गत अध्यायों में प्रसंगानुसार उल्लेख कर चुके हैं, स्पष्टत: प्रकट होता है। प्रतीत होता है कि उनके तत्सम्बन्धी रुख का प्रभाव धीरे-धीरे राजाओं आदि पर पर्याप्त रूप से पड़ता गया। अमुक विषय पर तुलसी का प्रभाव क्या और कितना पड़ता होगा, इस पर विचार बांधने के लिये हमें इतना ही नहीं देखना चाहिए कि वे उस सम्बन्ध में अपने ग्रन्थों में क्या और कितना लिखकर छोड़ गये हैं। एक तो ग्रन्थों में लिखे गये कथन यों ही सूक्ष्माकार होते हैं, और जब ग्रन्थ काव्य रूप में होता है तब उसका आकार और भी सूक्ष्म हो जाता है। तुलसी साहित्य सबका

सब काव्य-रूप में उपलब्ध है, इसलिये उसमें प्राप्त उनके समस्त कथनों को उनके आचार-विचारों के केवल सूत्र-मात्र समझना चाहिये। जब वे समाज में श्रोताओं के समक्ष अपने इन सूत्रों का स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचन करते होंगे तब यह स्वाभाविक है कि उनकी भव्य मूर्ति तथा मर्म-स्पर्शी वचन श्रोताओं के हृदय में खूब गहरे चुभते होंगे, जैसा कि अन्य कर्म-योगियों के दर्शन वा मौखिक प्रवचनों के समय हुआ करता है। इस स्वाभाविक नियम पर ध्यान रखने पर जब हम तुलसी के साहित्य में इस प्रकार के शब्द-सूत्रों को पढ़ते हैं—'ऊंचे नीचे करम धरम अधरम करि, पेट ही को पचत बेचत बेटा-बेटकी' अथवा 'तिन सोने के मेरु से ढेर लहे, मन तो न भरो घर पै भरिबा'—तब हमारे सामने उनके उस विशाल प्रभाव की मूर्ति आ खड़ी होती है, जिसके फल-स्वरूप तत्कालीन राजाओं और धनी-मानी आदमियों को अपनी उन दुष्कृतियों पर जिनके कारण वे अपनी निर्बला असहाय बहिन-बेटियों को विधर्मियों के हवाले कर देते थे, अतिशय पश्चात्ताप और लज्जित होना पड़ता होगा। इस प्रभाव के कारण ही हमारा अनुमान है, जहाँगीर के बाद मुगल बादशाहों को हिन्दू-राजाओं द्वारा अपनी बहिन-बेटियों का समर्पण किये जाने का निन्द्य कर्म इतिहास में प्रायः नहीं के बराबर सुन पड़ता है। यहां यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि जहांगीर के बाद मुगल बादशाहत इतनी सुदृढ़ हो गई थी कि कोई हिन्दू राजा उसका विरोधी बनकर नहीं रह सकता था, इसलिए अकबर द्वारा प्रारम्भ की गई उक्त वैवाहिक राजनीति को प्रयोग में लाना न शाहजहाँ और न औरंगजेब के लिये आवश्यक रह गया था। उक्त प्रश्नकर्त्ता को यह सोचना चाहिये कि बादशाह की ऐसी सुदृढ़ परिस्थिति में तो हिन्दुओं को अपनी बहिन-बेटियों को दे डालने के लिये और भी अधिक भय और प्रलोभन रहना शक्य था। अतएव उक्त निन्द्य कर्म के अन्त हो जाने का मूल कारण हमारी सम्मति में हिन्दुओं में धर्म-भावना और निर्भीकता की जागृति ही है, जिसका श्रेय तुलसी के क्रान्तिकारी आचार-विचारों को ही है। तुलसी के तद्विषयक उपदेश ही हमारी समझमें, प्रधान कारण बनकर उन्हें कई एक राजघरानों

में पूज्य और सम्मानित करते गये। चूंकि इस विषय पर अभी तक यथाविधि पर्याप्त खोज नहीं की गई है, इसलिये इन सब राजघरानों का उल्लेख ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर करना कठिन है। फिर भी यह सभी स्वीकार करते हैं कि तुलसी और राजा मानसिंह में बड़ा स्नेह हो गया था। आठवें अध्याय में बताया जा चुका है कि ये राजा मानसिंह उक्त बिहारीमल के पौत्र थे, और जोधबाई के नाते अकबर उनका फूफा था। उनके ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह की पुत्री भी जहाँगीर हरम में पहुँचाई जा चुकी थी। यदि मानसिंह के हृदय में तुलसी की तत्सम्बन्धी आलोचनाओं ने पश्चात्ताप और आत्म-ग्लानि उत्पन्न की होती तो वे तुलसी से कदापि स्नेह न पा लेते और अपने भाई जगतसिंह के साथ उनसे कदापि मिलने न जाया करते, वरन् उनके कट्टर शत्रु बन उन्हें अकबर व जहाँगीर द्वारा भली भांति दण्ड दिलाने में प्रयत्नशील रहते[१६]। इसलिये अन्य आवश्यक अनुसन्धानों की अनुपलब्धि में इस प्रमाण के आधार पर यही अनुमान लगाया जाय कि बिहारीमल के पदानुगामी अन्य राजाओं की दृष्टि में भी तुलसी अपने कर्त्तव्य के कारण प्रिय बनते जा रहे थे, तो गलत न होगा, क्योंकि तुलसी की आलोचना यदि किसी को सबसे अधिक चुभने वाली हो सकती थी तो वह मानसिंह और उनके बन्धु-बान्धवों को ही होने योग्य थी।

(स) मध्य भारत (राजपूताना) में:--

जब हम यह देखते हैं कि उक्त आलोचना के कटुतम पात्र आमेर के

---

१६. तुलसी ग्रन्थावली, खंड ३ की प्रस्तावना के ३८ वें पृष्ठ पर लिखा है कि "आमेर के महाराज मानसिंह और उनके भाई जगतसिंह गोस्वामी जी के पास प्रायः आते थे"; और 'तुलसी और उनका युग' के दूसरे पृष्ठ पर जगतसिंह को राजा मानसिंह का जेठा पुत्र कहा है और बताया है कि इस जगतसिंह की बेटी जहाँगीर के हरम की वासनी बना दी गई थी। इससे यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि जगतसिंह नाम का केवल एक ही व्यक्ति था या दो।

राजा मानसिंह आदि तुलसी की विचार-धारा को पूज्य और अनुकरणीय मानने लग गये थे, तब इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि वे मेवाड़ (चित्तौड़) के राना-वंश को तो अत्यन्त प्रिय लगते होंगे, क्योंकि चित्तौड़ के राजाओं ने उस हिन्दू-संस्कृति और मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु समस्त लौकिक वैभवों पर क्षार डाल रखा था, जिस की रक्षा के लिए तुलसी स्वयं तिलमिला रहे थे। वे मुसलमान वा मुगलों के सामने कभी नत-मस्तक नहीं हुए और न उन्होंने कभी अपनी बहिन-बेटियों को उनके सुपुर्द कीं। तुलसी के प्रति राना-वंश की कितनी श्रद्धा थी, इसका प्रमाण हमें इस अनुसन्धान में मिलता है कि मेवाड़ (उदयपुर या चित्तौड़गढ़) के प्रसिद्ध महाराणा राणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज की विधवा पत्नी राजरानी मीरा, जो मीराबाई के नाम से प्रसिद्ध है, तुलसी पर अटल विश्वास करती थी।

वार्ता यह है कि विवाह होने के पांच वर्ष बाद ही भोजराज की मृत्यु हो गई। मीरा बाल्यकाल से गिरधर-गोपाल की उपासिका थीं। जब वे विधवा हुई तब उनकी अवस्था एक मत के अनुसार १८ वर्ष की और दूसरे मत के अनुसार १३ वर्ष की थी। विधवा होने पर वे अपना समय उक्त देव के पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन तथा सन्त-समागम में व्यतीत करने लगीं। उनके सुसरालवालों को यह अच्छा नहीं लगता था। इसलिये वे सब विशेषकर उनका देवर विक्रम, उन्हें विविध प्रकार की ताड़नायें देने लगे, यहां तक कि विष-पान तथा सर्प-डंसन के द्वारा उनको मरवा डालने की चेष्टाएं भी की गईं, परन्तु वे न मर सकीं। अन्त में जब उनके नाकों दम आ गई तब उन्होंने कहा जाता है, तुलसीदास जी को यह पत्र लिखकर भेजा—

"स्वस्ति श्री तुलसी गुण दूषन-हरण गुसाईं।
बारहिं बार प्रणाम करहुँ अब, हरहु शोक समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते, सबन उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहि, देत कलेस महाई॥
बालपणे से मीरा कीन्ही, गिरिधर लाल मिताई।
सो तौ अब छूटै नहिं क्यों हू, लगी लगन बरियाई॥

मेरे मात पिता के सम हो, हरि भगतन सुखदाई।
हमहू कहा उचित करबो है, सो लिखिया समझाई ॥"

इसके उत्तर में कहा जाता है, तुलसीदास जी ने विनयपत्रिका में उल्लिखित निम्न पद लिखकर भेजा—

"जेहके प्रिय न राम बैदेही !
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषण, बन्धु भरत महतारी॥
गुरु बलि तज्यो कंत ब्रजवनितन, भे सब मंगलकारी।
नाते नेह राम को मनियत, सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटे, बहुतक कहौं कहाँ लौं।
तुलसी सो सब भाँति परम हित, पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम पद, ऐतो मतो हमारो॥"[१७]

परन्तु यदि तुलसी का जन्म सं० १५८९ (सन् १५३२) का माना जाता है जैसा कि हम पहले कह आये हैं, तो मीरा और तुलसी के पत्र-व्यवहार की यह बात बिलकुल मनगढ़न्त ठहरती है, क्योंकि "मीरा जी के समय में और गोस्वामी जी के समय में बड़ा अन्तर पड़ता है। मीराबाई की मृत्यु सं० १६०३ में हो चुकी थी।"[१८] प्रतीत होता है किसी ने तुलसी के उक्त पद को देखकर 'स्वस्ति श्री तुलसी' वाला पद मीरा के नाम पर बना डाला है।

मीरा का जन्म एक मत के अनुसार लगभग सं० १५५५ (सन् १४९९) और दूसरे मत के अनुसार सं० १५६० (सन् १५०४) में हुआ। उनका विवाह सं० १५७३ (सन् १५१७) में हुआ। विधवा होने पर वे सं० १५९० (सन् १५३५) में मेवाड़ छोड़कर अपने जन्मस्थान मेड़ता परगना को चली गईं और तीर्थाटन आदि करती रहीं। पश्चात् द्वारकाधाम में ४८

---

१७. विनयपत्रिका १७४

१८. तुलसी ग्रन्थावली, खंड ३, प्रस्तावना, पृ० ४९

वर्ष की आयु में एक मत के अनुसार सं० १६०३ (सन् १५४७) में और दूसरे मत के अनुसार सं० १६०८ (सन् १५५२) में स्वर्गलोक सिधार गईं।[19] इससे भी भिन्न एक तीसरा मत है जिसके अनुसार मीरा की मृत्यु-तिथि लगभग सं० १६३० (सन् १५७४) बताई जाती है।[20] मृत्यु-तिथि कुछ भी हो पर हर दशा में उक्त कालक्रम के अनुसार तुलसी उस समय, जब मीराबाई ने मेवाड़ छोड़ा लगभग दो या तीन वर्ष से अधिक के न होंगे।

तुलसी का पूर्वोक्त् जन्म-संवत और मीरा के इस काल-क्रम को देखकर यह निर्विवाद मान लेना पड़ता है कि उक्त पत्र-व्यवहार की बात केवल मनगढ़ंत है। परन्तु तुलसी का जन्म-संवत् पहले पहल संवत् १५५४ (सन् १४९८) माना जाता था और तदनुसार उनकी आयु १२६ वर्ष की मानी जाती थी, जैसा कि 'मूल गोंसाईचरित' के लेखक ने निम्न दोहा में व्यक्त किया है।

"पन्द्रह सौ चौवन विषै, कालिंदी के तीर।
स्रावन सुक्ला सत्तिमि तुलसी धरेउ शरीर॥"[21]

यह मत बाद के अनुसन्धानियों ने अस्वीकार कर दिया और 'घट रामायण' के रचयिता के मतानुसार तुलसी का जन्म-सम्वत् १५८९ (सन् १५३२) स्थिर रखा।"[22]

सम्वत् १५८९ मानने का एक मूल कारण हमारी समझ में यह है कि उसके मान लेने पर तुलसी की आयु ९१ वर्ष की रह जाती है, जिस

---

१९. उपरोक्त कालक्रम के लिए (१) डा० बल्देवप्रसाद मिश्र कृत 'काव्य कलाप' पृ० ६०-६२ ओर (२) 'कल्याण का नारी अंक' (वर्ष २२) पृ० ६२४-२७ का आधार लिया है।

२०. डा० श्रीकृष्ण लाल कृत मीराबाई (जीवन-चरित और आलोचना) पृ० ६१

२१. 'मूल गोंसाई चरित' (गीताप्रेस गोरखपुर) पृ० २

२२. 'मानस की रामकथा' पृ० १६-१७

पर आज का अल्पजीवी मनुष्य किसी प्रकार से मार-कूट कर विश्वास करने के लिये राजी किया जा सकता है। उसे यह विश्वास नहीं हो सकता कि कलियुग-वासी संयमी तुलसी १२६ वर्ष तक जीवित रह सका होगा यदि हम यह बतावें कि कृष्ण जी भी १२६ वर्ष तक जीवित रहे थे तथा आज भी सवा सौं डेढ़ सौ वर्षों के मनुष्यों का उल्लेख मिलता है,[२३] तो कदाचित् पाठकों को विश्वास हो जावेगा कि तुलसी १२६ वर्ष जीवित रहे हों। इसलिए यदि तुलसी का जन्म सचमुच ही सं० १५५४ में हुआ हो तो मीरा तुलसी के पत्र-व्यवहार को सत्य मानने में कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती, क्योंकि समायु होने पर भी मीरा की दृष्टि में तुलसी उनके यशस्वी जीवन के कारण शुभ-सम्मति देने योग्य समझे गये होंगे।

यदि यही मान लिया जाय कि तुलसी का जन्म सं० १५५४ में हुआ और मीरा और तुलसी के बीच उक्त पत्र-व्यवहार भी हुआ, तो आप पूछेंगे कि उस पत्र-व्यवहार में ऐसी कौन सी बात है जो तुलसी की क्रान्ति की परिणाम सूचक है। इससे तो आप कहेंगे यही विदित होता है कि एक मालाधारी वैरागी ने दूसरे को भी अपने समान बना लेने की शिक्षा दे डाली है। शिक्षा तो गुरु अपने अनुरूप ही देता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु यह अनुरूप क्या है, इसी को समझना कठिन होता है। उसे समझने के लिए गुरु का रूप ही क्या है, यह जानना आवश्यक होता है। यह जाने बिना गुरु की शब्दावली का रहस्य ही समझ में नहीं आता, और जब शब्दावली समझ में न आई तो शिष्य गुरु के अनुरूप बन ही नहीं सकता। यदि ऐसा हो तो गुरु का उसमें क्या दोष? अतएव मीरा को लिखे गये उक्त पद की शब्दावली ही महत्व की है। 'राम' और 'वैदेही' ही उसके मूलाधार हैं। वैदेही (बिना देह वाली) उसे कहते हैं जो देह में आसक्त न हो। दूसरे

---

२३. दैनिक 'युगधर्म' जबलपुर (११-६-५७) में रूसी समाचार सिमित 'तास' के आधार पर जर्मनी के एक कोरोयेव नाम के व्यक्ति की १५७ वर्ष की उम्र में मृत्यु होना बताया है।

शब्दों में वह 'अनासक्त प्रकृति' की द्योतक है। 'प्रकृति' को यदि केवल 'कृति' कहें तो मूलार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिये "वैदेही" 'अनासक्त कृति' अथवा 'अनासक्त' कर्म की प्रतीक है। इसी तरह हम बार-बार कहते आ रहे हैं कि 'राम' जड़-चेतन-जीवयुक्त सकल जगत् का प्रतीक है। इस तरह 'राम और वैदेही' दोनों 'अनासक्त सगुणात्मक सृष्टि' का अर्थ-वाची है। तात्पर्य यह कि जब तुलसी 'राम-वैदेही' या 'राम-सीता' आदि की चर्चा करते हैं तब यह सदा ध्यान में रहे कि उनका लक्ष्य 'अनासक्त सगुण, अर्थात् 'अनासक्त कर्म-तत्व' पर रहता है, न कि दुनिया से भाग-बचकर कोरी गुरिया टारने की क्रिया पर। यही अभिप्राय उनके उस पद का है जो उन्होंने, कहा जाता है, मीरा को लिखकर भेजा था। यदि कोई धर्ममय कर्म करने में बाधा डाले तो उसे त्याग देने ही में लाभ होता है, चाहे वह कितना ही स्नेही क्यों न हो, यही तुलसी की मीरा को शिक्षा थी। विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रहलाद, भरत आदि के दिये गये दृष्टान्तों में भी यही भाव ओत-प्रोत है। सारांश यह कि धर्म-कर्मोन्मुखता, न कि धर्म-कर्म, परांगमुखता का पाठ ही तुलसीदास ने उक्त पद में भर दिया है, मीरा चाहे उसे उस रूप में समझी हों या न समझी हों।

मीरा सम्बन्धी इस तर्क-वितर्क की बात को छोड़ अब यही देखिये कि तुलसीकालीन राणावंश की अन्य रानियों वा राणों पर तुलसी का क्या प्रभाव पड़ा। यह इतिहास की बात है। राना संग्रामसिंह, जो राणा साँगा के नाम से प्रसिद्ध हैं, सन् १५२८ ई० में बावर की मृत्यु के दो वर्ष पूर्व परलोक गमन कर गये। उनकी मृत्यु के बाद मेवाड़ का आधिपत्य उनके पुत्र अर्थात् मीरा के देवर विक्रम के हाथ में रहा। इन्हें राना विक्रमादित्य भी कहते हैं। इनके बाद फिर वह राना उदयसिंह के हाथ में आया। दोनों निर्बल और निकम्मे निकले। परन्तु विक्रमादित्य के राज्य-काल में राज-माता करुणावती (उर्फ कर्मावती) ने जो वीर राणा साँगा की विधवा पत्नी थी, और उदयसिंह के राज्य-काल में उनकी उपपत्नी वीरा ने मुसलमानों के जो दांत खट्टे किये और अपना धर्म निबाहा वह मेवाड़ के राणा-कुल का

मस्तक सदा ऊंचा रखने वाला है, इसमें संदेह नहीं। राना उदयसिंह को अकबर बादशाह ने लड़ाई में हरा कर जब कैद कर लिया तब वीरांगना वीरा रण-चण्डी की तरह, मुगल सैनिकों पर टूट पड़ी और अपने पति को कैद से छुड़ाकर चित्तौड़ ले आई।[२४] उदयसिंह का देहान्त सन् १५७२ में हो गया और महाराणा प्रतापसिंह सिंहासनारूढ़ हुए। इस समय तक तुलसी का यश पर्याप्त रूप से फैल चुका था। अकबर और प्रतापसिंह की खूब ठन गई। उधर राजा मान-सिंह के कुल की पूर्वोक्त निम्नताओं के कारण राणा ने उनसे रोटी-बेटी का सम्बन्ध विच्छेद कर लिया था जिससे राजा मानसिंह उनसे विकट वैर-भाव पालने लग गए थे। परिणाम यह हुआ कि सन् १५७६ में हल्दीघाटी की प्रसिद्ध लड़ाई हुई। राणा प्रताप सिंह हार गये। मानसिंह ने अकबर फूफा की ओर से लड़कर अपने अपमान का बदला चुकाया और प्रतापसिंह को अपनी रानी तथा बाल-बच्चों समेत लगभग २५ साल तक जंगलों में भूखे-प्यासे इधर-उधर भटकते रहना पड़ा। इस अति लम्बे काल में कठिनतम आपत्तियों को भोगते हुए जिस तरह राणा और उनकी सहधर्मिणी राजरानी अपने धर्म-पथ पर अटल रहकर स्वतंत्रता के लिए मरते-मरते तक कटिबद्ध रहे वह किसी इतिहास-ज्ञाता से छिपा नहीं है। पराजय होने पर मेवाड़ छोड़ते समय की घटना का उल्लेख एक लेखक ने राणा प्रताप और राजरानी के वार्तालाप के रूप में बड़ी गम्भीर भाषा में किया है, "स्वाधीनता व्रत बहुत ही कठोर होता है। राणा मेवाड़ की पवित्र भूमि से बिदा ले रहे थे; सामने निर्जन मैदान था, विदेशी आक्रमण ने राजस्थान को मरुस्थान बना दिया था। रानी ने कहा 'आर्य-पुत्र! **इसी तरह महाराज रामचन्द्र ने भी विधर्मियों और राक्षसों के दमन के लिये चौदह साल तक वनवास किया था।'** महाराणा ने रानी की ओर देखा, उनकी आंखों में आनन्द और विषाद जल बनकर उमड़ आया। अप्पा रावल के वंशधर ने कहा, 'प्रिये! जगज्जननी सीता भी तो थीं।"[२५]

२४. कल्याण, नारी अंक पृ० ५७९

२५. कल्याण, नारी अंक पृ० ५८०-८१ (निम्नांकित रेखायें मेरी हैं)

तुलसी स्थान-स्थान पर जाकर राम-कथा सुनाया करते थे। ग्राम-ग्राम में उनकी विचार-धारा फैलती जा रही थी। सन् १५७५ में राम-चरित मानस की रचना भी प्रारम्भ कर दी गई थी। उसे लिखते-लिखते एक वर्ष हो गया था कि इतने में हल्दीघाटी की लड़ाई हुई। उसी में पराजय होने के पश्चात् राणा और रानी राम और सीता के चौदहवर्षीय वनवास का स्मरण कर विधर्मियों अथवा राक्षसी वृत्तियों वाले लोगों से धर्म और स्वातंत्र्य के रक्षार्थ टक्कर लेने का साहस बाँध रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि राम-सीता का चरित्र उस समय के नर-नारियों के गिरे हुए दिलों में साहस धैर्य, बल आदि गुणों को भरने में पूरा योग दे रहा था। राम-सीता के चरित्र का यदि तुलसी देश की बोली, हिन्दी-भाषा में प्रसार न करते तो, सम्भव है, राणा साँगा के वंशज भी यवनों के सन्मुख नत-मस्तक होने लगते। राजमातायें या राजरानियां भी हिन्दू-संस्कृति और मान-मर्यादा को भुला बैठतीं। राणा प्रतापसिंह व्याकुलतावश अकबर को आत्म-समर्पण कर कहीं का मनसबदार बन जाता या आमेरियों (जयपुरियों) जैसा बादशाह का दरबारी बन जाता। सम्भव है आप कहेंगे कि हम व्यर्थ ही इस सम्बन्ध में तुलसी को श्रेय दे रहे हैं, क्योंकि मेवाड़ाधिपति स्वभाव से तथा अपने पूर्व-इतिहास-वश आत्माभिमानी और निर्भीक होते थे तथा उनके कुल की नारियां भी उच्च गुणों से युक्त वीरांगनायें हुआ करती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि मेवाड़ ने कई वीर-रत्न उत्पन्न किये और राणा साँगा उन वीर-रत्नों में से एक हैं। उसने तत्कालीन तीन प्रबल मुसलमान शक्तियों, अर्थात् दिल्ली (सिकन्दर वा इब्राहीम लोधी राजवंश), मालवा और गुजरात पर अपना सिक्का इस तरह जमाया कि बाबर के आते आते तक सन् १५२५ में "उससे सभी विदेशी राजा भयभीत होने लगे, और मेवाड़ में उन लोगों को आश्रय दिया जाने लगा जिनकी सम्पत्ति छीनी जा चुकी थी— अथवा जो अधिकार-च्युत किये जाते थे। वह प्रथम श्रेणी का सैनिक राज्य बन गया था और उसके आय के साधन भी भांति-भांति व्यवस्थित हो गये थे।[२६]" परन्तु समय ने

२६. डा० ईश्वरीप्रसाद कृत (History of India) पृ० ४९५-९६

पल्टा खाया। बाबर आया। सन् १५२६ में पानीपत की लड़ाई में उसने लोधीवंश को हराकर दिल्ली का राज्य अपने हाथ में लिया और फिर सन् १५२७ में खनवाह (Khnwah) की लड़ाई में राणा साँगा के प्रधानत्व में राजपूतादि के एक विशाल संघ को हराकर उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। इसी के बाद सन् १५२८ में राणा साँगा की मृत्यु हो गई। इसी गिरी हुई हालत में कायर और निर्बल विक्रम मेवाड़ का राणा बना। मेवाड़ की इस अवस्था का लाभ उठाकर राणा साँगा के शत्रु गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने मेवाड़ पर धावा कर दिया। विक्रम सामना न कर सका। तब वीर राणा साँगा की पूर्वोक्त विधवा पत्नी युद्ध में कूद पड़ी और जोरों से शत्रु के साथ लड़ी। जब शत्रु सेना की अधिक प्रबलता के सम्मुख टिकना कठिन प्रतीत हुआ तो दिल्ली के हुमायूं बादशाह से सहायता की याचना की गई। हुमायूं की सहायता पहुंचने के पूर्व ही करुणावती तेरह हजार साथियों के साथ पूर्व परिचित वा तत्कालीन प्रथा के अनुसार अग्नि-ज्वाला में जिसे "जौहर" कहते थे, भस्म हो गई। और बहादुरशाह ने नगर में प्रवेश कर दिया। इस दुखित घटना के पश्चात् हुमायूं आ पहुँचा और बहादुरशाह को मेवाड़ से भगाया।[२७] मेवाड़ इस प्रकार की हीन दशा में पहुँच चुका था तब उदयसिंह राणा बना। वह भी स्थिति को सम्हालने में असमर्थ हुआ, क्योंकि वह भी कायर और डरपोक निकला, जैसा पहले कह चुके हैं। अकबर ने उसे कैद कर ही लिया था, पर उसका भाग्य ही था कि उसकी वीरांगना पत्नी उसे छुड़ा सकी।

इस विवरण से प्रश्नकर्त्ता को यह ध्यान में आ गया होगा कि जिस राजवंश पर हिन्दू जाति की आंख लगी थी वह भी बुरी तरह से लड़खड़ा चुका था। मानव-धर्म रूपी सूर्य की आशा-किरण विलीन हो रही थी। हिन्दू-संस्कृति और स्वराज्य स्थापना का विचार रात का सपना बन गया था। निराशा की उठती हुई इस काली घटा के साथ ही तुलसी का जन्म सं०

---

२७. कल्याण, नारी अंक पृ० ५७८

१५३२ में हो गया। यदि वे न होते और उन्होंने, हनुमान, राम और सीता के चरित्रों का अपने निजी आचार-विचारों द्वारा प्रसार न किया होता तो कौन कह सकता है कि करुणावती और वीरा देवियां उक्त राज-वंश के महत्व को बचा सकतीं और प्रतापसिंह तथा उनकी राजरानी स्वतंत्रता देवी के पीछे पागल वन-जंगलों की खोह-खोह में घास-पात पर निर्वाह करते हुए जीवन व्यतीत करते। राणा प्रताप ने जब राज्य का कार्यभार सन् १५७२ में सम्हालना प्रारम्भ किया उस समय तुलसीदास ४० वर्ष के और हल्दी-घाटी के समय ४४ वर्ष के थे। यदि यह मान लिया जाय कि तुलसी ने समाज-सेवा का कार्य २० वर्ष की अवस्था से शुरू कर दिया होगा तो यह हो ही नहीं सकता कि उनके यशस्वी आचार-विचारों की ख्याति राजपूताने तक न फैल पाई होगी। भाषा-समत्व और भूमि-निकटता की दृष्टि से महाराष्ट्र की अपेक्षा राजस्थान में तुलसी का प्रभाव अधिकतर और शीघ्रतर पड़ना अधिक सम्भव कहा जाने योग्य है। तुलसी की विचार-धारा का प्रभाव किस मात्रा में पड़ा होगा यह जानना आवश्यक नहीं है, पर प्रभाव पड़ा यही परिणामवादी को दिखाना आवश्यक है। देश की अधोगति के समय पतनोन्मुख मार्ग में कई वर्ग के लोग पाये जाते हैं। कोई पतन की प्रारम्भिक श्रेणी के होते हैं, कोई माध्यमिक श्रेणी के और कोई अन्तिम श्रेणी के। इस लिये क्रान्तिकारियों या धर्म-प्रवर्तकों की योजनायें उक्त श्रेणियों के अनुरूप उन लोगों को उन्हीं मात्राओं में प्रभावित करती रहती हैं। इसी तरह तुलसी की क्रान्तिकारी योजनाओं ने समयानुकूल राणा-वंश को प्रभावित कर हिन्दुत्व को डूबने से बचाया। राम के पदानुगामी तपस्वी राणा प्रताप ने वनवास को स्वीकार कर अपनी मृत्यु सन् १५९७ तक मुगलों के विरुद्ध जो घोर परिश्रम किया और चित्तौड़, अजमेर तथा मंडलगढ़ को छोड़ समस्त मेवाड़ को पुनः अपने आधिपत्य में लेकर छोड़ा यह पूर्णतः नहीं तो अंशतः तुलसी की पूर्वोक्त समाजोत्कर्षी क्रान्तिमय विचार-धारा का परिणाम है, इसे कदाचित् ही कोई विवेकशील मनुष्य अस्वीकार कर सकेगा।

(२) समाज-क्षेत्रीय प्रमाण—

(अ) मुसलिम जनों पर प्रभाव और उसके दो प्रमुख प्रमाण—

जिस प्रकार सूर्य सम-स्वभावी होने के कारण अपने प्रकाश से किसी क्षेत्र या व्यक्ति को वंचित नहीं रखता, अथवा सत्य सब पर बिना किसी भेद भाव के अपना प्रकाश डालने में नहीं चूकता, उसी प्रकार समत्व-जल से परिपूरित तुलसी का हृदय-सरोवर भी सब के लिए वाणी-प्रवाह के रूप में फूट निकला था। जितनी क्षमता उसमें प्यासे हिन्दू की प्यास बुझाने के लिये थी, उतनी ही प्यासे मुसलमानों के लिए भी थीं। ज्यों ज्यों तुलसी की यह सम-भावुकता प्रकट हो चली त्यों त्यों सैकड़ों छोटे-बड़े मुसलमान उनके आचार-विचार से प्रभावित होते गये, जिसके फल-स्वरूप तुलसी उनके प्रिय भी बनते गये। छोटों की चर्चा के लिये इतिहास वा आख्यानों में क्वचित् ही स्थान दिया जाता है, और जहां कहीं दिया भी जाता है तो अति संकुचित रूप में। सबों के लिये स्थान देना इतिहासकारों वा वार्ताकारों के लिए सम्भव भी नहीं है। इसलिये परिणामवादी को केवल दो-एक प्रमुख मुसलमानों के उपलब्ध दृष्टान्तों से ही सन्तोष कर लेना होगा। एक दृष्टान्त ह अकबर के प्रसिद्ध मंत्री नवाब खानखाना अब्दुर्रहीम का, जो रहीम कवि के नाम से विख्यात हैं, और दूसरा दृष्टान्त है, बादशाह जहाँगीर का। "कहते हैं कि नवाब खान-खाना अब्दुर्रहीम और तुलसीदास में बड़ा स्नेह था। एक गरीब ब्राह्मण द्रव्य के अभाव से कन्या का विवाह न कर सकता था। वह गोस्वामी जी के पास आया। उन्होंने एक चिट पर दोहे की यह पंक्ति लिखकर दी और खानखाना के पास ले जाने को कहा—

सुर तिय, नर तिय, नागतिय सब चाहत अस होय।

खानखाना ने उसे बहुत कुछ धन देकर उसी के हाथ यह लिखकर भेजा :—

"गोद लिए हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय।"[२८]

---

२८. तुलसी ग्रन्थावली, खंड ३ (प्रस्तावना) पृ० ३८

उक्त कथन में "कहते हैं" शब्दों के आने से पाठकों के मन में तुलसी-रहीम के स्नेहत्व के विषय में सन्देह उत्पन्न हो सकता है। सन्देह भले ही कोई उद्धरित दोहा के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के उक्त प्रकार से लिखे जाने के विषय में करेगा, पर रहीम की रचनाओं के स्वभाव को देखकर कम से कम इस बात में सन्देह नहीं रहता कि वे तुलसी के प्रति बड़ा स्नेह रखते थे और इसलिये उनके पास वह ब्राह्मण भेजा गया होगा। रहीम का हाथ दान देने के लिए सदा खुला रहता था, यह ऐतिहासिक सत्य सबको मान्य है। संपत्ति संचय और दान-उदारता के विषय में रहीम के दृष्टान्तस्वरूप केवल निम्न दो दोहों को पढ़ लीजिये—

> तरुवर फल न खात है, सरवर पियें न पान।
> कह रहीम परकाजहित, संपत्ति सुचयि सुजान॥
> तबहीं लगि जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
> बिन दीबो जीबो जगत, हमहि न रुचै रहीम॥

आचार-विचार में समता जब होती है तभी स्नेह होता है। यदि यह सत्य हो कि विचार-आरसी आचार का ठीक ठीक प्रतिबिम्बन कर देता है तो तुलसी और रहीम के साहित्यज्ञाता को यह मान लेने में कोई सन्देह न होगा कि रहीम तुलसी से अवश्य स्नेह पालते रहे होंगे, क्योंकि दोनों की भावुकता में समता झलकती है, केवल शब्दों में अन्तर है।

रहीम न केवल हिन्दी-काव्य के प्रेमी ही थे, बल्कि स्वयं उच्च कोटि के हिन्दी के कवि भी थे। जन्म से मुसलमान होते हुए भी वे मानवता के नाते हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद नहीं देखते थे। वे न केवल तुर्की, फारसी और अरबी भाषा ही के बल्कि संस्कृत और हिन्दी के भी पंडित थे। उन्होंने उक्त सभी भाषाओं में ग्रन्थों की रचनायें कीं। किसी जाति की संस्कृति जानना हो तो उसकी प्राचीन और वर्तमान भाषाओं से परिचित होना आवश्यक होता है, ग्रन्थ-रचनायें चाहे उनमें न की जावें, तुलसी के ग्रन्थों में अरबी, फारसी और तुर्की के यत्र-तत्र ऐसे शब्दों के आने से जो सर्वसाधारण

में प्रचलित नहीं थे, ऐसा अनुमान होता है कि उन्होंने भी मुसलिम-साहित्य का अध्ययन अवश्य किया होगा, हालांकि समय के तकाजे के कारण उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए हिन्दी को ही अपनाया, यहां तक कि संस्कृत तक में कोई ग्रन्थ नहीं रचा। संस्कृत-भाषा के ज्ञाता होने तथा हिन्दुओं के बीच रहने के कारण रहीम ने एक भारतीय के नाते हिन्दू-संस्कृति को अपना लिया था। यही उनकी रचनाओं से विदित होता है। यदि अपनी कविता में रहीम अपने नाम की छाप लगाते न चलते तो, भक्ति, धर्म और नीति सम्बन्धी उनके वाक्यों के पढ़ने से यही भ्रम होता कि मानो किसी हिन्दू-धर्मज्ञ ने अपनी अनुभूतियों का रंग देकर उनको साहित्य-क्षेत्र में कुशलता पूर्वक बिखेर दिया है। एक ओर यदि तुलसी पुराणों के अवतारों, देव-देवियों, आदर्शों, नामों वा वार्ताओं का आश्रय लेकर अपनी रचनायें करते हैं, तो दूसरी ओर रहीम भी उन्हीं की पुकार करते सुनाई देते हैं। इधर तुलसी काम-क्रोधादि विषयों को त्यागने की बात करते हैं, तो उधर रहीम भी वही कहते हैं। यहां चित्रकूट तुलसी को शान्तिदायक है, तो, व्यथित रहीम को भी वह शान्ति देता है। राम, कृष्ण, जगदीश, नारायण, आदि यदि तुलसी को प्रिय हैं, तो रहीम को भी वे उतने ही प्रिय हैं। रहीम ने पौराणिकता को कैसे अपनाया है इसे जानने के लिए उदाहरणस्वरूप यह देखिये—

जे गरीब पर हित करें, ते रहीम बड़ लोग।
कहा सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग॥
रहिमन याचकता गहै, बड़े छोट ह्वै जात।
नारायण हू को भयो, बावन अंगुर गात॥
मुनि नारी पाषाण की, कपि पसु गुह मातंग।
तीनों तारे रामजू, तीनों मेरे अंग॥
मान सहित विष खाय के, शंभु भए जगदीस।
बिना मान अमृत पिये, राहु कटायो सीस॥

रहीम को जहांगीर ने कैद कर रखा था। कैदखाने में उन्हें कड़ी से कड़ी यातनायें भोगनी पड़ीं। कुछ सालों बाद महावत खां से बदला चुकाने

के अभिप्राय से बादशाह का स्वार्थ अटका तब वे मुक्त कर दिये गये। मुक्त होने पर वे भ्रमण करते हुए चित्रकूट पहुँचे। उस समय का उनका यह दोहा है—

चित्रकूट में रमि रहे, रहिमन अवध नरेश।
जा पर विपदा परति है, सो आवत इहि देश॥

तुलसी ने भी चित्रकूट को विपदाहारी कहा है—

चित्रकूट जनु अचल अहेरी, चुकइन घात मार मुठ भेरी॥[२९]॥

तथा

भव भुवंग तुलसी नकुल, डसत ज्ञान हरि लेत।
चित्रकूट इक औषधी, चितवत होत सचेत॥[३०]॥

मन की आदि पवित्रता पर जिस प्रकार तुलसी यह कहकर बल देते हैं—

वचन-वेष तें जो बनैं, सो बिगरै परिनाम।
तुलसी मन तें जो बनै, बनी बनाई राम॥[३१]॥

उसी प्रकार रहीम ने भी वही भाव निम्न दोहा में व्यक्त किया है—

रहिमन बिगरी आदि की, बनै न खरचै दाम।
हरि बाढ़े आकाश लौं, छुट्यौ न बामन नाम॥

जिस प्रकार तुलसी संपत्ति-संचयार्थ तृष्णा को यह कहकर धुतकारते हैं—

तुलसी बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें,
आगि बड़वाग्नि तें, बड़ी है आगि पेट की।[३२]।

---

२९. मानस अयो० कां० १३२।४

३०. दोहावली, १८०; नोट—(चित्रकूट) (चित्र + कूट) का रहस्यार्थ होता है, 'व्यवस्थित संसार। ईश्वर, उस दृष्टि में कहाता है 'सकुशल चित्रकार'

३१. दोहावली—१५४

३२. कवितावली—उत्तर-कांड ९६

उसी प्रकार रहीम ने यह कहकर प्रकाश डाला है।

'जो पुरुषारथ तें कहूँ, संपत्ति मिलति रहीम।
पेट लागि बैराट घर, तपत रसोई भीम॥

जिस तरह तुलसी 'दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज्य नहीं काहुहि व्यापा' कहकर आदर्श राज की कल्पना करते हैं, उसी तरह रहीम 'ससि-सम-सुखद' कहकर उसकी कल्पना करते हैं—

रहिमन राज सराहिए, ससिसम-सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है, तपै तरैयन खोय॥

इसी तरह आपको कई स्थलों पर प्रायः हर आवश्यक विषय पर तुलसी और रहीम के भावों में समता मिलती है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तुलसी और रहीम वाली स्नेह की बात असत्य नहीं हो सकती। परन्तु परिणामवादी तो यह कहेगा कि उसे उन दोनों के स्नेह से क्या मतलब? वह तो यह देखना चाहेगा कि क्या रहीम के भाव तुलसी के आचार-विचारों से प्रभावित हुए थे।

एक मनुष्य किसी दूसरे से प्रभावित तभी होता है जब वह या तो उस दूसरे पर श्रद्धा करे या उससे स्नेह या प्रीति करे। श्रद्धावान् भक्त के रूप में प्रभावित होता है, और स्नेहवान् मित्र के रूप में। परिस्थितियों पर विचार करने से हमारा अनुमान है कि रहीम के इस स्नेह ने काल पाकर तुलसी के प्रति श्रद्धा का रूप धारण कर लिया था?

इस सम्बन्ध में अपना विचार स्थिर करने के लिए अब हमें रहीम के जीवन की कुछ घटनाओं की ओर ध्यान ले जाना होगा। रहीम हुमायूं के प्रसिद्ध सेनानी, और अकबर के बाल्यकालीन अभिभावक तथा प्रधान मंत्री बैरमखां के पुत्र थे। उनका जन्म लाहौर में सन् १५५६ में हुआ था।

बैरम खां ने अकबर के राज्य की जड़ जमाने में भारी प्रयत्न किया। परन्तु अकबर ने अपनी धात्री आदि के षड्यंत्र के वशीभूत होकर बैरम खां को पदच्युत कर उसे हज्ज करने मक्का जाने के लिये बाध्य किया। बैरम

मार्ग में अफगानों के द्वारा सन् १५६० में मार डाला गया। उस समय रहीम चार वर्ष का बालक था। दो वर्ष के बाद रहीम को अकबर ने आगरा अपने पास बुला लिया। सन् १५७५ में जब रहीम केवल १९ वर्ष का था अकबर ने उसे गुजरात का प्रान्ताध्यक्ष बनाया। उसके बाद वह अकबर की ओर से भिन्न-भिन्न प्रान्तों का कार्य-भार सम्हालने लगा और विविध विरोधियों से सफलतापूर्वक युद्ध भी करने लगा। फल स्वरूप उसे काफी यश और धन प्राप्त होता गया।

सन् १६०५ में अकबर के मरने के बाद रहीम पहले के समान ऊंचे पदों पर रहकर ईमानदारी और सत्यता के साथ जहांगीर के आधीनस्थ भी राज्य सेवाएं करते रहे। उन्होंने अपने पुत्र की पुत्री का विवाह भी शाहजादा खुर्रम (शाहजहां) के साथ कर दिया। परन्तु इसी बीच में दूसरा शाहजादा परवेज तथा उसके अनुयायी दक्षिण में उसकी सफलताओं को देख उससे विद्वेष करने लगे।

सन् १६२० में समय की गति विरुद्ध हुई। आपत्तियों ने एक के बाद एक आना शुरू कर दिया। दो वर्षों के भीतर उनके प्रथम दो वयस्क पुत्र चल बसे। इतने में शाहजहां ने बादशाह के खिलाफ बगावत कर दी। सन् १६२३ में वह बादशाही सेना से हार कर इधर-उधर आश्रय वा सहायता के लिये भटकता फिरा, और अन्ततः सन् १६२६ में उसने बादशाह से क्षमा-याचना कर ली। शाहजहां की बगावत में रहीम का हाथ समझ बादशाह ने बगावत के दौड़ान में उसे कारागार में पटक दिया और उसके एक मात्र बचे हुए तृतीय पुत्र को मरवा डाला। बगावत समाप्त होने के पूर्व उसे (बगावत को) दमन करने वाला प्रबल सेनानायक महावत खां परवेज के सहयोग से प्रबल हो उठा था और उसने स्वयं बादशाह वा नूरजहां के विरुद्ध बगावत शुरू कर दी। तब शाहजहां की क्षमा-याचना हो जाने पर रहीम सन् १६२६ में कारागार से इस अभिप्राय से मुक्त कर दिया गया कि वही महावत खां से टक्कर ले सकेगा। परन्तु रहीम सन् १६२७ ही में मृत्यु के जाल में चला गया और उसी वर्ष जहांगीर भी चल बसा।

रहीम प्रकृतितः स्वामि-भक्त था और शाही दरबारों के आन्तरिक षड्यंत्रों से दूर रहता था। अकबर के शासन काल में उसे शान्ति पूर्वक राज्य-सेवाओं को करने का अवकाश मिला। पर जहांगीर के समय उसको वैसा अवकाश न मिल सका। नूरजहां की मानसिक प्रवृत्ति विद्वेषनीय तथा षड्यन्त्रकारिणी थी, और जहांगीर स्वतः उसके हाथ की एक कठ-पुतला सा बन गया था। उसके राज्य में जब सत्यता और ईमानदारी का मूल्य नहीं दिखा तब रहीम जैसे व्यक्ति के लिए हृदय में अशान्ति और खिन्नता का आ जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है। अच्छा-भला काम करने पर भी यदि स्वामी की दृष्टि में उसका मूल्य न किया जाय तो मानसिक ग्लानि और खेद अवश्य होता है। तब मनुष्य के मन में ईश्वर की ओर चित्त अपने आप दौड़ता है—वह पश्चात्ताप करता है कि मैंने व्यर्थ दूसरों का मुंह ताका, व्यर्थ पेट के नाम पर अनेक दुष्कर्म किये, इत्यादि।

ईश्वर की गति बड़ी विचित्र होती है। जो उसकी ओर दौड़ता है उसे वह पहले खूब कसता है। वह उस पर इतने गजब ढाने लगता है कि उसका धैर्य टूट जाता है। रहीम का मन लौकिक नीचताओं के कारण उलट-पुलट हो ही रहा था कि ईश्वर ही उस पर टूट पड़ा। दो जवान बेटे छीन लिए, राज्य-अपमान सहा, कारागार भोगा, यातनायें सहीं, और तीसरा पुत्र भी क़ातिल के हाथ से मारा गया।

इस तरह के आपत्ति के बादल जब मनुष्य पर घुमड़ने लगते हैं, विशेष कर उस मनुष्य पर जिसकी प्रकृति पूर्व-कर्मों वश अंशतः निर्मल होती चली हो, तब वह न केवल अदृश्य ईश्वर का आश्रय पकड़ने दौड़ता है वरन् लोक में जीवित किसी ऐसे ईश्वर-प्रेमी की टोह में भी रहता है जो उसे सान्त्वना दे सकने योग्य हो। ऐसे मनुष्य रहीम को उस समय कई एक दिखे, पर उनसे कोई सान्त्वना न मिल सकी। जिस मनुष्य ने जन्म-भर युद्ध-क्षेत्रों में युद्ध किया हो, प्रान्ताध्यक्ष होकर राज्य-कार्य-भार चलाया हो, समाज में रहकर जनता के सुख-दुख का अनुभव किया हो, भरे-पूरे कुटुम्ब की अधिनायकी करके कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को सम्हाला हो तथा संपत्ति-संचय और

दान के महत्व को समझा हो, ग़रज यह कि जिसने लोक-जीवन व्यतीत किया हो और दूसरों को अनिवार्यतः व्यतीत करते पाया हो, उसके लिये तो वही सान्त्वना दे सकता था, जो लोक में विचरनेवाले उस साक्षात् ईश्वर की आदर्शमूर्ति प्रस्तुत कर कर्मरूपी सुनहले अक्षरों से लिखकर मानवता का पाठ पढ़ा सके। ऐसा महात्मा उन्हें मिला तुलसी, जो साक्षात् लोकवासी राम का आदर्श-चरित्र, लोगों को बताकर सच्चरित्रता का पाठ सिखाता फिरता था। न कोई रहस्यवादी सूफ़ी न कोई निर्गुणी-वैरागी 'दास' उसकी प्यास को बुझा सकने योग्य मिला, और न कृष्ण की ठुमक ठुमक चाल पर रिझाने वाला सूरदास ही उसे शान्ति दे सका।

तुलसी रहीम से २४ वर्ष जेठे थे। उनकी उठती हुई ख्याति को वे अकबर के दरबार में अपने से बड़े स्याने एकत्रित दरबारियों तथा कवियों के मुख से उस समय भी सुना करते थे जब वे नवयुवक ही थे। जिस वर्ष तुलसी ने रामचरित्र लिखना प्रारम्भ किया उसी वर्ष रहीम की बुद्धिमत्ता और चरित्र-शुद्धता को देख बादशाह ने उन्हें युवावस्था ही में गुजरात के प्रान्ताध्यक्ष का पद सौंप दिया। जैसे-जैसे रहीम की अवस्था बढ़ती गई वैसे-वैसे तुलसी के आचार-विचारों का प्रसार भी चहुँओर बढ़ता गया, जिसके कारण रहीम तुलसी की ओर नित्यप्रति अधिकाधिक आकर्षित होते गये। इसके साथ ही उनका पौराणिक अवतार-विषयक अध्ययन भी चलता रहा। फलतः उन्हें पुरानी निर्गुणता में नहीं, बल्कि पौराणिक सगुण स्वरूप में ही संतोष मिला। इन्हीं कारणों से हमारा निष्कर्ष है कि रहीम न केवल तुलसी से स्नेह पालते थे वरन् उन पर पूरी पूरी आस्था रखने लग गये थे, जिसके कारण वे तुलसी के अति निकट हो चुके थे। इस सन्निधि की स्थापना के पश्चात् ही, प्रतीत होता है, वे हिन्दू-संस्कृति-प्रधान भक्ति-धर्म-नीति विषयक प्रसून लेकर हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में एक प्रवीण कलाकार के रूप में आ उतरे, और अपने अनेक अमूल्य वाक्य भावी जनता को कर्त्तव्य-शील बनाने के हेतु स्मरणीय उक्तियों के रूप में उसी प्रकार छोड़ गये जिस प्रकार तुलसी छोड़ गये हैं। उक्त ग़रीब ब्राह्मण की वार्ता और तत्सम्बन्धी

दोहा की अर्द्धालियों द्वारा उभय प्रकार से की हुई पूर्ति रहीम और तुलसी की इस सन्निधि की ही द्योतक है। हो सकता है कि रहीम की रचनाएं उनकी स्वतंत्र अध्ययनशीलता के ही परिणामस्वरूप हों। हो सकता है कि मुसलिम-हिन्दूओं में ऐकता स्थापित करने वाली तत्कालीन पुकार से ही प्रभावित होकर उन्होंने अपनी रचनाओं को उक्त सांचे में ढालना उचित समझा हो, पर इन कारणों से उनकी तुलसी के साथ एकात्मीय जैसी गांठ पर कोई आंच नहीं आ सकती। यह मानी हुई बात है कि कालान्तर के कारण भूत-कालिक घटनाओं पर विश्वास करने के लिये केवल दो साधन हुआ करते हैं। एक साधन तो यह होता है कि पूर्वकाल में कथित तत्संबन्धी वचनों पर विश्वास किया जाय, और दूसरा साधन यह होता है कि समीक्षक स्वयं परिस्थितियों को अपने तर्क-कसौटी पर कस कर देखे। दोनों से यह निश्चय हो जाता है कि इन २४ वर्ष छोटे-खानखाना रहीम पर तुलसी का प्रभाव अवश्य पड़ा।

खानखाना रहीम के इस दृष्टान्त से यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि आत्म-विकासी के पथ के और भी कई मुसलिम पथिकों पर प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष विधि से तुलसी के क्रान्तिकारी सन्देश का प्रभाव पड़ता जा रहा था। परन्तु मनुष्य की हर जाति में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक वे जिनकी दिव्य-वृत्ति होती है, और दूसरे वे जिनकी आसुरी वृत्ति होती है। रहीम का दिव्य वृत्ति की ओर झुकाव था। इसलिये उन पर शीघ्र और फलदायक प्रकाश पड़ा। पर वैसा ही प्रकाश जहांगीर तथा उस जैसी आसुरी वृत्तिवाले मुसलिमों पर न पड़ सका। जहांगीर के विषय में यह कहा गया है कि वह एक बार तुलसीदास से मिलने गया था, और उसने उन्हें बहुत कुछ देना चाहा, पर उन्होंने कुछ ग्रहण न किया।[३३] इस प्रकार के लोगों की भावनाएं केवल मौलिक वस्तुओं से बंधी रहती हैं। जीवन की आत्म-विकासनी दूसरे पहलू उनके अन्तर्नेत्रों से ओझल रहते हैं। इसलिये

---

३३. तुलसी ग्रन्थावली, खं० ३, प्रस्तावना पृष्ठ ५४

उनकी दुनिया केवल लौकिक वस्तुओं के आदान-प्रदान की बातों से चमकती रहती हैं। परन्तु महान पुरुषों की दृष्टि में उनका कोई महत्व नहीं रहता।

तुलसी तो ईश्वर के सिवाय किसी दूसरे के सामने अपने लिए हाथ पसारना जानते ही नहीं थे, और न उन्हें कभी सम्पत्ति-संचय की लालसा ही रही।[३४] तब फिर वे जहांगीर से क्या लेते? कुछ लोकेक्षणा वाले ऐसे व्यक्ति होते हैं जो महात्माओं के दर्शन करने इसलिये जाते हैं कि उनके वर-दान से उन्हें सन्तान, धन, स्वास्थ आदि का लाभ मिल सके। कुछ बिना ईक्षणा के ही कौतूहलतावश उन्हें देखने पहुँचते हैं। महात्मा कहने से हमारा अभिप्राय केवल सर्व सामान्य मायने के साधु-सन्तो से ही नहीं है वरन् उन सब विभूतियों से है, जो अपने अपने क्षेत्रों में असाधारणतया कर्त्तव्य परायण हों। तुलसी में दोनों प्रकार की विलक्षणता विद्यमान थी, जैसा कि पिछलें पाठों से पाठकों को विदित हुआ होगा। साधुत्व उनमें था ही, पर कर्मक्षमता भी उनमें विलक्षण ही थी। इसलिये उनके पास कोई तो केवल कौतूहलतावश, कोई लोकेक्षणाओं वश और कोई केवल आत्म-ज्ञान की लालसा से पहुँचा करते थे। जहांगीर उनसे मिलने गया था, या नहीं इस पर निश्चय पूर्वक बिचार निर्धारण के लिये कोई ऐसी परिस्थितियों का उल्लेख नहीं मिलता जिनसे उचित तर्क लगाया जा सके। इसलिये यदि उसका जाना सत्य माना जाय तो यही कहा जा सकता है कि वह तुलसी की ख्याति सुनकर या पूर्वोक्त "कँदवालौ करामात" का स्मरण कर केवल कौतूहल वश उनसे मिलने चला गया होगा। इस प्रकार के लोगों पर महात्माओं के दर्शन मात्र से जीवनो-पयोगी प्रकाश नहीं पड़ता, और यदि कहीं किसी पर पड़ा भी तो किंचित मात्र रहता है। इससे यह निदान निकला कि जहांगीर जैसें आसुरीवृत्ति

---

३४. कवितावली, उत्तर-कांड० २८ में कहा है —
"जग जांचिये कोउ न, जांचिये जौ जिय, जांचिये जानकी-जानहि रे।
जेहि जांचत जाचकता जरिजाइ, जो जारति जोर जहानहि रे॥"

वाले मनुष्यों पर जो केवल कौतूहलवश तुलसी से मिलते थे कोई ऐसा विशिष्ट प्रभाव नहीं पड़ता था कि जिससे उनकी क्रान्ति को बल और योग मिलता। परन्तु लोकेक्षणावाले मुसलिम दर्शकों (मुलाकातियों) की गति इससे कुछ भिन्न थी। उनमें से कुछ ऐसे रहते थे जिनकी इच्छायें पूरी हो जाया करती थीं, और इन पूर्तियों के कारण वे स्वाभाविकतः तुलसी की दया समझते थे। जिन्हें पवित्र महात्माओं के संसर्ग में आने का अवकाश आया है वे जानते हैं कि वे कितने कारुणिक होते हैं और उनकी वह कारुणिक पवित्र आत्मा अपने आप द्रवीभूत होकर उनके निकट पहुँचे हुए दुखित जनों को दुख से मुक्त करने के हेतु कितनी व्याकुल हो पड़ती है और उसका फल भी कभी कभी कितना लग जाता है। जो भी हो, पर जब कभी कोई दुखीजन अपनी किसी पीड़ादि से इस प्रकार मुक्त हो जाता है तब वह उस महात्मा का आभार मानता है तथा उस आभार-वश उसे उनके अनुगामी बनने के लिये आन्तरिक प्रेरणा उठती है। इस दृष्टि से कुछ मुसलमान लोग भी तुलसीदास जी की कुछ बातें मानने लग गये थे, इसमें सन्देह नहीं। पर अनुमानतः उनकी संख्या बहुत कम ही रही होगी, क्योंकि जनता तो अधिकतर यही समझती थी कि वे हिन्दू-साम्प्रदायिकता के ही समर्थक थे।

(ब) हिन्दू जनों पर प्रभाव—

तुलसी-सम्बन्धी चमत्कारिक किंवदन्तियों से पता लगता है कि उनके पास लोकेक्षणा वाले हिन्दू अधिक संख्या में पहुँचा करते थे। उन किंवदन्तियों में कौन सत्य है कौन असत्य, अथवा कौन अतिशयोक्ति-पूर्ण है, इस पर अभिप्रेत विषय की दृष्टि से यहां विचार करना आवश्यक नहीं है। उन पर गवेषणापूर्ण ध्यान रखकर केवल इतना तात्पर्य अवश्य निकाला जा सकता है कि तुलसी अपने साधु-स्वभाव के कारण हिन्दुओं में विशिष्ट रूप से सम्मानित और पूज्य होते गये। इसके फलस्वरूप बहुत से हिन्दू कृतज्ञता और श्रद्धावश उनकी योजनाओं में कम-बढ़ मात्रा में हाथ बटाने लगे, ऐसा अनुमान लगाया जाय तो उचित ही होगा।

(१) जाति-पाँति का छुआ-छूत-तोड़क कर्म-पर-आधारित वर्ण-व्यवस्था का बीजारोपण—

परन्तु इतना होने पर भी तुलसी अपने जीवन काल में कृत्रिम जाति-भेद तथा छुआछूत को मिटा कर मौलिक वर्ण-व्यवस्था को कायम न कर सके, और नाही वे आश्रम-व्यवस्था पर लोगों को आरूढ़ करने में सफल हो पाये। हिन्दू ही जब उनकी वर्णाश्रम-व्यवस्था-सम्बन्धी योजना को नहीं समझ पाये, अथवा किसी-किसी ने समझकर भी उस पर अमल करके नहीं बताया, तब भला मुसलमानों से क्या आशा की जा सकती थी कि वे प्राकृतिक नियमों पर आधारित उसके महत्व को समझ कर उसे व्यावहारिक जगत में कार्यान्वित करके बताते। इस असफलता का मूल कारण यही था कि सहस्रों वर्षों से तत्सम्बन्धी दुर्व्यवस्था ने अपनी जड़ें इतनी गहरी जमा लीं और फैला लीं थीं कि अपने अंगुष्ठ माप जैसे छोटे से जीवन काल में उन्हें खोदकर फेंकना, तुलसी का प्रयास वैसा ही था जैसे कोई टिटहरी अपने अंडे की रक्षा के लिए अपने उलटे पैरों से आकाश को ठोढ़ मारने की सोच रही थी।

फिर भी तुलसी ने खोदने का कार्य तो प्रारम्भ कर ही दिया था, और साथ ही साथ वे अन्य लोगों को उस खोदने में योग देने के लिए पुकार भी लगाते जाते थे। अपने उद्दिश्य कर्म में संलग्न होने के कारण संन्यस्थ वे इतने हो गये थे, कि उन्हें केवल पेट के लिए भोजन और थकावट मिटाने के लिये नींद की आवश्यकता रह गई थी, चाहे जहां जो कुछ मिल गया वह खा लिया और जहां नींद आई वहीं सो गये। 'मांगि के खैवो मसति को सोइबो, लैबे को एक न दैबे को दोऊ' यह थी उनकी पुकार, जिसे लगाकर वे सब को धर्म मार्गपर आ जाने के लिये आह्वान करते जाते थे। तन-मन-धन-धाम रूप उनका जो 'हम' (अहंकार) था, उसे वे धर्म-रक्षा के हेतु जानकीनाथ (ईश्वर) को समर्पण कर चुके थे, क्योंकि धर्म को तत्कालीन कलिकाल भक्षण कर रहा था—

'धर्ममनै कलि काल ग्रसे, जप जोग विराग लै जीव पराने।
को करि सोच मरै 'तुलसी', हम जानकी नाथ के हाथ बिकाने॥"

यह आत्म-समर्पण क्या था? उसी कर्म मार्ग में जुट जाना जो राम जी पहले निर्धारित कर चुके थे। उसी के पालने में वे अपने जीवन का फल मानते थे।

"मति रामहिं सों गति रामहिं सों, रति रामहिं को वलु है।
सबकी न कहै 'तुलसी' के मते, इतनो जग जीवन को फलु है।।

राम की यह गति कैसी है? वही है, जिसका वर्णन अतिलघुरूप में राम-चरित-मानस में कर दिया है। राम के इन चरित्रों के अनुपालन के लिए ही वे लोगों को पुकारते चले जाते थे—

"युक्ति बेधि पुनि पोहिये, रामचरित बर ताग।
पहिरहि सज्जन विमल उर, शोभा अति अनुराग।।"

कर्म के इस महत्व को उच्चतम शिखर पर पहुँचाने वाले अपने उक्त आचार और विचार को प्रदर्शित करते हुए, तथा कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था के स्थायित्व की अनिवार्य आवश्यकता पर बल देते हुए तुलसी ने छुआछूत और जाति-पांति के कठघरों को तोड़ना आरम्भ कर दिया। यों तो जैसा पहले कहा जा चुका है कबीर, दादू आदि ने मुसलमान-हिन्दू के बीच कौमीयता का तथा हिन्दू-हिन्दू के बीच अस्पृश्यता या जातीयता मिटाने का कार्य खाना-पीना एक करके शुरू कर ही दिया था, परन्तु तुलसी को उनकी उक्त नीति अमान्य थी क्योंकि उसमें कर्म-तत्व पर आधारित वर्ण-व्यवस्था की उपेक्षा की जा रही थी। इससे उन्हें यह भय हुआ कि समाज में आत्म-विकास के मार्ग में रोड़े अटकेंगे और फलतः मानवता की जागृति में रुकावट होगी। इसलिये 'कर्मप्रधान विश्व करि राखा' की बिगुल फूंकते हुए वे शरीर से सम्बन्धित जाति-पांति के बन्धनों को तोड़ने लगे, और छुआ-छूत के भूत को ठुकराते हुए कर्मों पर दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ होकर समाज-क्षेत्र में विचरने लगे। स्वच्छता पर ध्यान रख, वे चाहे जिसके हाथ का भोजन और पानी लेने लगे, और भंगियों तक को स्पर्श कर उनका सत्कार

करने लगे।[३५] उन्होंने डंके की चोट पर यह घोषित करना प्रारम्भ कर दिया कि उनके इस कार्य को देख यदि उन्हें कोई पोच कहे या जुलाहा आदि ही कहे तो उसकी उन्हें कोई परवाह नहीं—

"लोग कहें पोच, सो न सोच न संकोचु,
मेरे ब्याह न बरेखी, जाँति-पाँति न चहत हौं॥"[३६]

अथवा

"धूत कहौ अवधूत कहौ, रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोउ॥"[३७]

रूढ़ियों की संकीर्णता में बंधे हुए लोगों के इन व्यंगों तथा बहिष्कारों की उन्हें चिन्ता इसलिये नहीं थी कि वे मानवमात्र को स्नेह और सम्मान का पात्र मानते थे और सब से वैसा ही वर्ताव करने के लिए आग्रह करते थे।

"राम के गुलामनि की रीति प्रीति सूधी सब,
सब सों सनेह सबही को सनमानिये।"[३८]

राम का गुलाम अथवा खुदा का बन्दा यह सोचकर कर्म नहीं करता कि कर्म फलित होगा या नहीं, और होगा तो कब, क्योंकि वह 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्' वाले सिद्धान्त से भली-भांति परिचित रहता है। फिर भी यह कहना कि तुलसी की तत्सम्बन्धी योजना अफलित हुई पूर्ण सत्य नहीं हैं। तुलसी ने उसी परिश्रमशील चतुर कृषक का काम किया जो किसी ऊसर बंजर भूमि को यथाशक्ति सुधार कर उसमें बीजारोपण

---

३५. तुलसी ग्रन्थावली (खंड ३) प्रस्तावना पृष्ठ ५१ पर किसी वार्ता के आधार पर यह लिखा है कि 'एक वार काशी में आये हुए एक अयोध्या वासी भंगी का गोंसाई जी ने बड़ा सत्कार किया था।

३६. विनय पत्रिका—७६

३७. कवितावली उत्तर-कांड, १०६

३८. कवितावली उत्तर कांड—१०८

कर देता है। उसकी मृत्यु के उपरान्त योग्य संतति उसका सिंचन करती गई। इस योग्य सन्तति में से दो के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—एक आर्य समाज के प्रवंतक स्वामी दयानन्द सरस्वती, और दूसरे अहिंसा-तत्व के पुजारी महात्मा गान्धी। संयोग-वश दोनों की मात्र-भाषा गुजराती थी, दोनों का जीवन भारत में अंग्रेजी-राज्य के समय व्यतीत हुआ, और दोनों अपने अपने युग के क्रान्तिकारी महापुरुष थे।

तुलसी ने मुसलमानी राज्य और मुसलमानियत की जड़ हिलाई, तो इन दोनों ने अंग्रेजी-राज्य और ईसाइयत को हिलाना प्रारम्भ किया। इधर एक ओर जब तुलसी अपनी क्रान्ति के प्रसार कार्य के द्वारा मुगलों को हिलाने में लगे थे, तब उधर दूसरी ओर जहांगीर के समय में ईसाई मतावलम्बी पोर्तगीजों (पुर्तगालवासियों) ने अपना रंग जमाना शुरू क दिया था, यहां तक कि शाहजहाँ को गद्दी पर बैठते ही सन् १६३१ ई० में उनके विरुद्ध सशस्त्र सेना भेजनी पड़ी थी। उनके पश्चांत् फ्रेंच (फ्रांसवासी) और अंग्रेज (इंग्लैंडवासी) भी भारत में आये तथा व्यापार के बहाने तीनों भारत भूमि पर जमते गये। जब मुगल बादशाहत के पैर लड़खड़ाने लगे। तब इन तीनों पाश्चात्य-शक्तियों में प्रभुत्व के हेतु पारस्परिक सशस्त्र युद्ध होते गये, तथा अन्त में अंग्रेजों का ही प्रभुत्व रहा और मुगल बादशाहत का अन्त हुआ। इन तीनों के आने पर मुसलिम साम्प्रदायिकता के साथ साथ ईसाई साम्प्रदायिकता भी भारत में छिछल रही थी। जिस तरह मुसलमानी राज्यों के युग में मुसलमानियत हिन्दुत्व अथवा हिन्दू जाति को अपने बल और छल-छिद्र के द्वारा समाप्त करने में लगी रहती थी, उसी प्रकार इन ईसाइयों ने उसे हड़प करने के लिये कुछ नए तरीके अपनाना प्रारम्भ कर दिये थे। तुलसी हिन्दुत्व को विनाश करने वाली जाति-पांति और छुआ-छूत की कुप्रथा को नहीं मिटा सके। उसी का लाभ उठाकर ईसाइयों ने तलवार के बल पर तो नहीं, वरन् मिशनरियों (missionaries) के शिक्षालयों तथा औषधालयों आदि तथा विविध प्रकार के प्रलोभनों द्वारा हिन्दुओं को ईसाई बनाने में होड़ा होड़ मचा रखी थी। भारत जिस समय

इस परिस्थिति में पड़ा हुआ था उस समय तुलसी के द्वारा प्रारम्भ की हुई क्रान्ति को आगे बढ़ाने के लिये श्री दयानन्द सरस्वती का जन्म हुआ। तुलसी को मरे लगभग सवा दो सौ वर्ष हुए थे जब इस महात्मा ने इस आर्यभूमि पर जन्म धारण किया।* उस समय तक अंग्रेजों का सूर्य चमक उठा था। अनेकों न केवल ईसाई बनते जा रहे थे, वरन् सारे देश के रहन-सहन, खान-पान तथा बोल-चाल आदि प्रायः सभी प्रकार के जीवन में पश्चिमी संस्कृति का रंग चढ़ता जा रहा था। इसका मूल कारण वही हमारी मूर्खता पूर्ण हीनता थी, जो तुलसी के समय मौजूद थी। मुसलमानियत कुछ दब पाई थी कि ईसाइयत ने और आकर गला पकड़ना प्रारम्भ कर दिया। तब जिस प्रकार तुलसी ने 'निगमागम सम्मत' कहकर अर्थात् निगम (वेदों) और आगम (पुराणों) का आश्रय लेकर हिन्दुत्व को जगाना प्रारम्भ किया, उसी प्रकार दयानन्द ने केवल वेदों का आश्रय ले आर्यत्व (हिन्दुत्व) को जगाया। जिस प्रकार तुलसी के सामने जाति-पाँति और छुआ-छूत का कठिन प्रश्न था, उसी प्रकार वही प्रश्न दयानन्द के सामने उपस्थित था। इसलिये जिस तरह तुलसी ने जाति पाँति को तोड़ना, छुआ-छूत को मिटाना और गुण-कर्म-स्वभाव पर आधारित, वर्ण-व्यवस्था का पुनरुद्धार करना शुरू किया था, उसी प्रकार दयानन्द जी ने भी किया। तुलसी ने अपनी क्रान्ति-घोष यदि सं० १६३१ (सन् १५७५) में 'रामचरित मानस' के द्वारा किया तो दयानन्द ने अपना क्रान्ति-घोष सं० १९३९ (सन् १८८३) में 'सत्यार्थ प्रकाश' द्वारा मचाना प्रारम्भ किया।

जब देश में इस प्रकार की कठिन समस्याएं आती हैं तब सभी देश-प्रेमियों के हृदय में उनका सामना करने के लिये एक तड़क सी उठती है और सभी अपनी-अपनी मति के अनुसार उससे पार होने के उपाय जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार तुलसी के युग में कबीरपन्थी, दादूपन्थी आदि तत्कालीन समस्या को गलत तरीके से हल करने का मार्ग बता रहे थे, उसी प्रकार दयानन्द सरस्वती के युग में राजा राममोहन राय के द्वारा प्रणीत ब्रह्म-समाज गलत राह पर जनसाधारण को ले जा रहा

था। इसलिये तुलसी को जिस तरह अपने युग के उक्त ग्रन्थों की आलोचना करनी पड़ी, उसी तरह दयानन्द जी को ब्रह्म समाज की भूल पर प्रकाश डालना आवश्यक हुआ। उन्होंने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में प्रायः सभी प्रचलित मतों या पन्थों का जिनमें कबीर, नानक, दादू आदि के पंथ भी हैं, खण्डन किया है और उसी सिलसिले में उन्होंने ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज की त्रुटियां बताई हैं। उनकी उस आलोचना से स्पष्ट होता है कि हर देशोद्धारक को अपनी मूल संस्कृति का आधार लेकर अपनी योजना बनाना चाहिये। विस्तार भय से उक्त आलोचना का पूरा अवतरण न देकर उसका तद्विषयक केवल प्रथम और अन्तिम वाक्य ही पाठकों के अवलोकनार्थ देना पर्याप्त होगा। जब प्रश्नकर्त्ता ने उनसे पूछा कि "ब्रह्मसमाज और प्रार्थना-समाज तो अच्छा है या नहीं?" तो उन्होंने कहा "कुछ-कुछ बातें अच्छी हैं और बहुत सी बुरी हैं।.....इन्होंने यही समझा होगा कि अंग्रेज, यवन, अन्त्यजादि के साथ खाने-पीने और जाति भेद तोड़ने से हम और हमारा देश सुधर जायगा। परन्तु ऐसी बातों से सुधार तो कहां उलटा बिगाड़ होता है।"[३९]

जाति-पांति के परम विरोधी स्वामी दयानन्द के मुख से निकला हुआ उक्त कथन वैसा ही भ्रमोत्पादक प्रतीत होता है जैसा कि तुलसी के मुख से निकले हुए 'पूजिय विप्र शील गुण हीना, शूद्र नाहिं गुण ज्ञान प्रवीना' आदि कथनों से लोग उन पर जाति-भेद के पक्षपात का दोषारोपण करने लगते हैं। सच बात यही है कि दोनों प्रचलित जाति उपजाति-भेद के कट्टर विरोधी थे, और दोनों शास्त्र-संमत उस वर्ण-व्यवस्था के कट्टर समर्थक थे, जिसमें यह क्षमता थी कि अज्ञात कुल का जाबाल, क्षत्रिय कुल का विश्वामित्र तथा चांडाल कुल का मातंग ब्रह्मर्षि पद के भोक्ता बन सकते थे। दयानन्द जी का अभिप्राय उक्त कथन से इतना ही है कि अपनी संस्कृति को बिना समझे-बूझे दूसरे की आडम्बरी नकल करने में देश हित नहीं होता उलटी हानि ही होती है। तुलसी का भी यही अभिप्राय था और यही उन्होंने कहा

३९. सत्यार्थ प्रकाश, ११वां सम्मुलास

था। गांधीजी ने भी वही किया या कहा। हमें स्मरण है कि गांधी जी ने एक बार अपने उस प्रश्नकर्त्ता को जिसने चीन या रूस की क्रान्ति के विषय में प्रश्न छेड़ा था, यही उत्तर दिया था कि अपनी संस्कृति (culture) को त्याग कर दूसरे की होड़ करना अच्छा नहीं होता। आपको आश्चर्य होगा कि जिन स्वामी दयानन्द ने दर्जनों मतों का खण्डन अपने सत्यार्थ-प्रकाश में कटु-कटु शब्दों से किया है उन्होंने तुलसी मत के विषय में एक शब्द भी नहीं कहा, हालांकि उस समय रामचरित मानस का घर घर प्रचार हो रहा था। इसका प्रधान कारण यही हो सकता है कि तुलसी ने अपनी योजना को आर्यावर्त की मूल संस्कृति पर ही आधारित किया था, भले ही दयानन्द जी ईश्वरावतार को नहीं मानते थे और न देव-देवियों की पूजा को महत्व देते थे, क्योंकि तद्विषयक मूर्ति-पूजा तथा पंडा-पुजारियों की धांधलियों से, जो आर्य संस्कृति में धब्बा लगा रही थीं, उनका मन ऊब उठा था। यदि कोई यह देखकर कि दयानन्द जी ने शैव और वैष्णव मतों का खण्डन किया है, कहे कि तुलसी-मत का अलग से खण्डन करना आवश्यक नहीं था, क्योंकि वे वैष्णव-मतावलम्बी थे, तो हमारी समझ में वे न तुलसी को समझे और न दयानन्द जी को ही समझे। तुलसी कुछ वैष्णवता अथवा शैशवता का प्रतिपादन करने नहीं बैठे थे और न यह कहने बैठे थे कि विष्णु या शिव या हरि-अवतार राम-नाम की माला टालते हुए मौज करते रहो। वे कहने और बताने चले थे कि कर्त्तव्यपरायण होकर मानव बनो और बनाओ, तथा देश का कल्याण करो या कराओ। यही स्वामी दयानन्द जी का उद्देश्य था। यही कारण हमें प्रतीत होता है कि तुलसीकालीन परिस्थितियों को तथा तदनुकूल तुलसी की योजना को भली-भांति समझकर उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश में कबीर, दादू आदि के साथ तुलसी के विरुद्ध कुछ आलोचना करना आवश्यक नहीं समझा।

एक ओर क्रान्तिकारी दयानन्द जी हैं जिन्होंने मौन रहकर ही तुलसी की क्रान्ति को मान्यता दी, परन्तु दूसरी ओर क्रान्तिकारी गांधी जी हैं जिन्होंने खुले शब्दों में उनकी तथा उनकी क्रान्ति की प्रशंसा ही की है, जैसा हम पहले कह आये हैं। उन्होंने जब देखा कि तुलसी जाति-पांति के भेद

तथा छुआ-छूत को मिटाने का एक प्रकार से केवल बीज बो पाये थे, तथा उनके बाद दयानन्द एवं श्रद्धानन्द आदि उनके अनुयायी भी उन्हें खोदकर फेंक देने का धनुष नहीं तोड़ पाये तो उन्होंने उसी कार्य को आगे बढ़ाना जारी रखा। उक्त धनुष का एक अल्पांग तोड़ने का सौभाग्य उनकी मृतात्मा को उस समय प्राप्त हो सका जब कांग्रेस शासन ने जाति-पांति तोड़क कुछ कानून बनाकर खंड-भारत में लागू कर दिये। यद्यपि यह सत्य है कि इन शासकीय विधानों से सामाजिक, बाह्य समत्व की स्थापना करने में पर्याप्त योग मिलेगा तथा हिन्दू-जाति मुसलमान-ईसाई होने से बच जावेगी, तथापि वर्तमान शासकीय और सामाजिक रवैयों को देखें यह भी सत्य दिखाई देता है कि वर्ण-व्यवस्था का आ जाना शताब्दियों तक सम्भव नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि गांधी जी की मृतात्मा को कानूनों के द्वारा समत्व लादने की बात से विशेष सन्तोष न हुआ हो, क्योंकि वह बल का प्रतीक है न कि नियंत्रित आत्म-विकास का, जिसके लिए ही उनकी योजना जगत में प्रसिद्ध है। जैसा कुछ भी हो, पर यह करना तर्क-विरुद्ध नहीं कहा जा सकेगा कि जाति-पांति, छुआ-छूत एवं वर्ण-व्यवस्था से सम्बन्धित जिस कार्य को तुलसी ने बीज रूप में प्रारम्भ किया उसमें आज लगभग चार सौ वर्ष बाद कुछ कच्चे से फल लगना शुरू हो गये हैं।

(२) लोक-गति-वश आश्रम-व्यवस्था की निष्फलता—

क्रान्तियां एकमुखी प्रतीत होते हुए भी बहुमुखी हुआ करती हैं यह हम पहले देख चुके हैं। उसीके अनुसार तुलसी की क्रान्ति भी थी। एक अकेले समाज क्षेत्र (social field) ही में उसके कई अंग थे। एक तो था यही वर्ण-व्यवस्था और दूसरा था आश्रम-व्यवस्था। आश्रम-व्यवस्था को दयानन्द और गांधी की योजनाओं में भी उतना ही प्रमुख या उच्च स्थान दिया गया था जैसा कि तुलसी की योजना में था, क्योंकि वह उस मूल आर्य-संस्कृति ही का एक प्रधान अंग है, जिस पर तीनों की क्रान्तियां खड़ी की गई थीं। इसकी सफलता की ओर समाज या शासन का कोई ध्यान नहीं रहा। शासन ने केवल शिक्षा के रूप में ब्रह्मचर्याश्रम तथा विविध प्रकारेण गृहस्था-

श्रम की ओर ध्यान दिया है। इस सृष्टि में केवल इन दो आश्रमों के विषय में कहा जा सकता है कि उनमें तुलसी के समय की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हुई है। परन्तु सच पूछा जाय तो यह वृद्धि केवल देखने मात्र की है क्योंकि उनका बहाव मूलादर्श से विमुख हो रहा है। पर यह कहते हर्ष होता है कि दयानन्द युग में, हमारी समझ में दयानन्द-मत की नवीनता के कारण चारों आश्रमों की गति व्यवस्थित रूप से चली, हालांकि वह मन्द ही रही। गांधी जी की प्रेरणा से भी स्वराज्य आन्दोलन के समय तत्कालीन ब्रिटिश-शासन से असम्बन्धित कुछ स्वतंत्र शिक्षालय अवश्य खोले गये पर वे अल्प-जीवी ही रहे। इसको छोड़ गांधी युग अर्थात् वर्तमान युग में वानप्रस्थ और सन्यास का तो प्राय: लोप सा होता जा रहा है, क्योंकि पश्चिमी अर्थ-शास्त्री तथा सामाजिक नीति ने जिसने सर्व संसार में अपना छत्र तान रखा है, हमारा लक्ष्य केवल उत्पादन-वितरण आदि क्रियाओं में इतना बिद्ध कर रखा है कि हमने अपने आत्म-विकास के विचारों को एक कोने में गठिया कर रख छोड़ा है। दयानन्द युग में गुरुकुल आदि की स्थापनाओं के द्वारा ब्रह्माचर्याश्रम को जो योग मिल रहा था और जिसके फलस्वरूप कुछ थोड़े-बहुत योग्य गृहस्थाश्रमी हो जाया करते थे वह भी आजकल शिथिल होता जा रहा प्रतीत हो रहा है। इसका मूल कारण है गुरुकुल संचालकों में इस भावना का आना कि उनके ब्रह्मचारियों को सरकारी नौक-रियां मिल सकें और सरकारी विश्वविद्यालय उन्हें मान्यता दें। विस्तार भय से इस प्रसंग को यहीं समाप्त करके इतना ही कहना आवश्यक है कि आश्रम व्यवस्था न तो फलीभूत हुई और न वर्तमान कालीन केवल लौकिक घुड़दौड़ के कारण उसके पुनरुत्थान होने के कोई लक्षण ही प्रतीत होते।

(३) बाल-विवाह और बहु-विवाह का विरोधात्मक शिलारोपण और उसके भावी परिणाम—

आश्रम-व्यवस्था की हीनता के अतिरिक्त तुलसी को स्वकालीन समाज में वैवाहिक अथवा पति-पत्नी-सम्बन्धी कुछ कुरीतियां भी दृष्टिगोचर

हो रही थीं। एक थी बहु-विवाह अथवा बहु-नारियों की कुप्रथा, और दूसरी थी बाल-विवाह की प्रथा। बाल-विवाह की प्रथा के कारण स्वयम्वर (self-choice) की प्रथा लुप्तप्राय हो चुकी थी। यद्यपि तुलसी अपनी क्रान्ति योजना में इन्हें स्थान देना नहीं भूले थे, तथापि उन्होंने उन पर प्रतिबन्ध लगाने के हेतु कारणवश कोई विशेष प्रयास नहीं किया। उन्होंने उनकी ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के हेतु केवल अपने आदर्श नायक-नायिका का चरित्र-चित्रण पर्याप्त समझा, जैसा हमारे तत्सम्बन्धी पूर्व विवेचन से ज्ञात हुआ होगा। सत्ताइस और अठारह वर्ष के वयस्क राम और सीता का वैवाहिक स्वयम्वर सब के लिए अनुकरणीय रूप में तुलसी ने प्रदर्शित कर दिया था, हालांकि उन्होंने स्वयम्बर और कन्या की अवस्था के विषय में कहीं स्पष्ट नहीं कहा है, और न कोई ऐसा संकेत ही किया है जिससे कुछ सत्यप्राय अनुमान लगाया जा सके।

सत्ताइस और अठारह वर्ष वाली बात पर हम अपने विचार किसी पूर्वाध्याय में प्रकट कर चुके हैं। परन्तु तुलसी के 'रामलला नहछू' को पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो राम का विवाह वैसे ही छुटपन में हुआ हो जैसी कि प्रथा तुलसी-युग में देखी जा रही थी। भ्रम उक्त ग्रन्थ के निम्न छन्द से हो उठता है।

'गोद लिये कौसल्या बैठी रामहि वर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आंचर हो।।'[४०]

हमें यह ज्ञात है कि हिन्दुस्तान में सामान्य जनता सभी वैवाहिक रीति-रस्मों को, दूलहा-दुलहिन चाहे वयस्क हों या अवयस्क, एक समान मानती हैं। तब राम-सीता की उक्त अवस्थाओं को मान लेने में कोई आपत्ति नहीं उठती, क्योंकि तुलसी का उद्देश तो यही था कि राम चाहे बड़े रहे हों या छोटे उनसे सम्बन्धित साहित्य अधिक से अधिक मात्रा में झोपड़ी और

---

४०. रामललानहछू, ९

महलों में एक समान पहुँचे। 'नहछू' नाइन के द्वारा पैरों के नखों को काटने तथा महावर लगाने की प्रथा का नाम है। यह बरात जाने के पहले दूलह के प्रति मनाई जाती है। इसी का दृश्य तुलसी ने 'राम लला नहछू' में खींचा है। परन्तु चूंकि राम बरात के साथ गये ही नहीं थे—वे पहले से जनकपुर ही में थे, इसलिये यही मानना पड़ेगा कि तुलसीदास जी ने जो कुछ 'राम लला नहछू' में लिखा है उसके द्वारा उन्होंने केवल मनोरंजनार्थ अपने समय की प्रथा का चित्रण किया है। इस निदान पर पहुँचने के पश्चात् यह भी आवश्यक नहीं रहता कि हम पंडित रामगुलाम द्विवेदी के इस मत को मानें कि यह "नहछू चारों भाइयों के यज्ञोपवीत के समय का है, (क्योंकि) संयुक्त प्रदेश मिथिला इत्यादि देशों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है।"[४१] यदि उक्त द्विवेदी जी की यह बात मान ली जाती है तो 'रामलला नहछू' के कम से कम ९वें और १९वें छन्दों को जिन में राम का दूलहापन स्पष्टतः बताया है, प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा।

बहु विवाह अथवा यह कहिये, एक पुरुष का अनेक स्त्रियों के संग या एक स्त्री का अनेक पुरुषों के संग का निषेध तुलसी ने अपने नायक-नायिका, राम और सीता के एकपत्नीव्रत और एक पतिव्रत्त के चित्रण के द्वारा जिस प्रकार प्रकट किया है वह कदाचित् संसार के साहित्य में अनूठा और अद्वितीय है। सिवाय इसके, तथा इधर-उधर यह कहने के कि वह कर्म निन्दनीय है वे इस सम्बन्ध में और कर ही क्या सकते थे? बाल-विवाह का विरोध उन्होंने स्पष्ट रूप से बलपूर्वक शब्दों में, हमारी समझ में इसलिये नहीं उठाया कि उस युग में मुसलमानी आतंक और अत्याचारों के कारण कन्याओं की पवित्रता को सुरक्षित रखने के अभिप्राय से यही आवश्यक था कि उनका विवाह अल्पायु में ही कर दिया जाय। इसी कारण से 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी' आदि वाले अर्थ-प्रदर्शक श्लोकों का समाज के कुछ हितचिन्तकों ने निर्माण किया होगा, और इसी कारण से तुलसी ने उनके विरुद्ध कोई छेड़-

---

४१. तुलसीग्रन्थावली, खंड ३, प्रस्तावना पृष्ठ ६६

छाड़ करना आवश्यक नहीं समझा। जब बाल-विवाह का विरोध नहीं किया जा सका तो स्वयम्बरों का समर्थन क्योंकर हो सकता था? इसलिये समयानुसार जितना तुलसी बहु-विवाह और बाल-विवाह के विरुद्ध कर सके उतना ही किया, और शेष कार्य दयानन्द सरस्वती तथा गान्धी की क्रान्तियों के लिये छोड़ गये। दयानन्द जी ने उनके विरुद्ध पर्याप्त जोरदार आन्दोलन उठाया और उनके पश्चात् आर्यसमाजियों ने भी उसे काफी अग्रसर किया। इस सम्बन्ध में आर्यसमाज के द्वारा जो जन-जागृति हुई उसका लाभ गान्धी और उनके अनुयायियों को मिला, जिसका परिणाम यह है कि हमें आज उन कुप्रथाओं पर प्रतिबन्ध लगाने वाले कुछ आवश्यक कानून लोकसभा और विधान-सभाओं में पारित रूप में देखने को मिल रहे हैं। इस सम्बन्ध में तुलसी को इतना ही श्रेय है कि उन्होंने उनके विरुद्ध उस समय आवाज उठाने का साहस किया जब कि समाज सशंकित, भयभीत और घोर अन्धकार में था। यदि काम-रत मुसलिमों एवं मुसलमानी तथा हिन्दुस्तानी राजाओं का जमाना बदला होता और शासन-परिवर्तनों के साथ-साथ पूर्व प्रकार के हरमों एवं रनिवासों का अन्त समय न आया होता तो कदाचित स्वामी दयानन्द वा आर्यसमाज को उस मार्ग पर सफलता पूर्वक बढ़ते जाने का अवकाश कठिनाई से हाथ लगता, और गान्धी की अनुयायी कांग्रेस सरकार भी इतने छोटे काल में जो प्रत्यक्ष सफलता प्राप्त कर सकी है वह भी न कर पाती। इन कानूनों के द्वारा तलाकों अर्थात् पति-पत्नी-सम्बन्ध-विच्छेदों (Divorces) तथा पंजी-बद्ध विवाहों (Registered marriages) को जो प्रोत्साहन दिया गया है और फलतः विवाहसम्बन्धी आर्य संस्कृति में निहित धार्मिक भावनाओं के स्थान में जातियों की देखा-देखी जो कान्ट्रेक्ट (Contract) का भाव उत्पन्न किया गया है उससे हिन्दू समाज को नैतिक लाभ होगा या कि उलटी हानि, जैसी कि अन्य देशों में दिखाई देती है, यह तो भविष्य ही बतावेगा। परन्तु इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उससे तुलसी की आत्मा को सन्तोष न हुआ होगा प्रत्युत दुःख ही हुआ होगा।

(४) हिन्दू जाति के अस्तित्व को खतरा से बचाया—

हिन्दू जाति के ह्रास का एक महाभयंकर कारण यह था कि बहुत से हिन्दू लौकिक कारणों के वश स्वधर्म परिवर्तन कर मुसलिम-धर्मावलम्बी बनते हुए मुसलिम-संख्या नित्य-प्रति बढ़ाते चले जाते थे, जैसा कि हम गत आठवें अध्याय में कह आये हैं। तुलसी की रचनायें धर्म-प्रधान हैं और उनमें मानस की रचना सबसे प्रमुख है, यह सब जानते हैं। मानस-प्रचार तथा तुलसी के व्यक्तिगत प्रयास से इस सम्बन्ध में उन्हें कितनी सफलता मिली इसका ठीक ठीक निदान तो तभी निकाला जा सकता जब तत्सम्बन्धी तत्कालीन विश्वसनीय आंकड़े मिलने का साधन उपलब्ध होता। परन्तु उनकी अनुपलब्धि की स्थिति में केवल अनुमान लगाया जा सकता है। यह अनुमान हमारा ही नहीं, वरन् प्रायः सभी अनुसन्धानकर्ताओं का है कि यदि तुलसी न हुए होते और उन्होंने मानस की रचना न की होती तो हिन्दू जाति का अस्तित्व बड़े खतरे में रहता। उन्होंने उसे डूबने से बचाया, इसमें कोई सन्देह नहीं है। यदि उन्होंने निर्भीकता का पाठ न पढ़ाया होता, लौकिक प्रलोभनों का तिरस्कार करना न बताया होता, छल-कपट से बचने के लिए सतर्क न किया होता, तथा उनसे भी अधिक स्वधर्म की श्रेष्ठता प्रकाशित कर घर-घर मानस के पठन-पाठन में रुचि उत्पन्न न की होती तो न जाने कितनी और कब तक यह भीरु जाति मुसलिम बनती जाती।

(५) मानसिक आधार पर हिन्दू-मुसलिम ऐक्य का प्रारम्भ—

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तुलसी साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दू जाति के हिमायती थे और मुसलिम जाति के शत्रु। यदि वह साधु स्वभाव के न होकर मुसलिमों के प्रति साधारण मनुष्यों के समान द्वेष, क्रोध, घृणा आदि का प्रदर्शन करते हुए कार्य करते तो मुसलमान भी उनके प्रति वैसी ही भावनायें रखते और हिन्दू-मुसलिम के बीच में एकदेशीयता का भाव अंकुरित न हो पाता। एकदेशीयता का बीजारोपण राजनीति-कुशल अकबर के शासन काल में उसके चतुर मंत्रियों के सहयोग से प्रारम्भ हो गया

था (सूफियों, नानक, कबीर, दादू आदि पन्थियों ने अपने अपने ढंग से उसमें बाहर से योग दिया। परन्तु तुलसी ने वही कार्य अपने निराले धार्मिक तरीके से राजशाहियों तथा उक्त पन्थियों से असम्बन्धित रहकर शुरू किया और जीवन पर्यन्त उसमें जुटे रहे। परिणाम यह हुआ कि दोनों के बीच न केवल खान-पान आदि बाहर व्यवहारों ही में समानता आई, बल्कि मानसिक परिवर्तन के कारण मन-मुटाव भी कम होता गया। इसका प्रत्यक्ष रूप तुलसी की मृत्यु के पश्चात् उस समय दिखाई देता था जब दोनों हिन्दू-मुसलमान स्वदेशी होकर विदेशी पोर्तगीज, फ्रेंच या अंग्रेज जाति के विरुद्ध युद्ध क्षेत्र में एक साथ आ उतरे थे। फिर उसका सबसे स्पष्ट परिचय सन् १८५७ में हुआ जब कि हिन्दुस्तान भर में हिन्दू-मुसलमानों ने मिलकर अंग्रेजी शासन से स्वतंत्र होने के लिये छटपटाहट मचा दी थी। सारांश यह है कि मानसिक सफलता के बिना केवल बाह्य अथवा शारीरिक समानता के प्रदर्शन करने से स्वदेशीयता का भाव नहीं आ सकता; और मन को परिवर्तित करना कोई सरल काम नहीं होता। उसके लिए बहुत काल तक सतत प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। चूंकि तुलसी की योजना का लक्ष्य यही मानसिक परिवर्तन था, इसलिये उसके परिणाम को प्रत्यक्ष होने में अधिक काल का लगना स्वाभाविक था। यद्यपि यह सत्य है कि कुछ ऐसे आपत्ति-ग्रस्त घटना चक्र आ जाते हैं कि जिनके कारण प्रजा में मानसिक एकता का कार्यान्वित हो जाना स्वाभाविक होता है। तुलसी के बाद पश्चिमी शक्तियों के द्वारा इस प्रकार की कई घटानायें हिन्दुस्तान पर घटाई गईं। उनके कारण हिन्दू-मुसलिम में एकता के भाव को बल मिला। परन्तु यदि तुलसी ने उसके आदि रूप को गढ़ना प्रारम्भ न किया होता तो सम्भव है हिन्दू मुसलमान को और मुसलमान हिन्दू को शत्रु समझ एक दूसरे को कुचल डालने के अभिप्राय से अन्य किसी तीसरी शक्ति से अपना नाता जोड़ते रहते। और जब तुलसी जैसा कोई देश में न रहा तब यह हुआ भी। अंग्रेजों ने दोनों की संयुक्त शक्ति को इस तरह फोड़ डाला कि गांधी के सौ प्रयत्न करने पर भी आज यह दिखाई देता है कि भारत के दो टुकड़े होकर ही रहे और हिन्दू

मुसलमान तीसरों के कोंछरे लगकर एक दूसरे पर दांत पीस रहे हैं। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि भाई-चारा बनाये रखने के लिए तुलसी ने जो कार्य किया वही अनुकरणीय है। चूंकि मानसिक वृत्तियां चांचलिक होती हैं इसलिए उन्हें नियन्त्रित रखने के लिए तुलसी जैसा सतत प्रयत्न किसी न किसी को करते ही रहना चाहिये। तुलसी ने यही किया जिसका फल उन्हें अपने जीवन-काल ही में इस रूप में दिखाई देने लगा था कि हिन्दू और मुसलमानों के कार्य-व्यवहारों तथा अन्तर्भावनाओं में ऐक्य के चिन्ह यत्र तत्र अंकित हो रहे थे, और वही उनकी मृत्यु के पश्चात् समय पाकर क्रमशः विशाल रूप में परिवर्तित होते गये।

(३) अर्थ-क्षेत्रीय प्रमाण—

आठवें अध्याय में हमने तुलसी की पूर्ववर्ती और सम-सामयिक पद्धतियों पर विचार करते समय उनके छै विभाग किये थे—(१) राजनैतिक (२) आर्थिक (३) सामाजिक (४) शिक्षा-सम्बन्धी (५) धार्मिक और (६) साहित्यिक।

इनमें से हम राज्य-क्षेत्रीय और समाज-क्षेत्रीय परिणामों पर विचार कर चुके। इन दोनों के अन्तर्गत बहुत से विचार ऐसे आ गये हैं जिनके आधार पर आर्थिक, शैक्षणिक और धार्मिक परिणामों का सहज ही अनुमान लग जाता है। राज्य और समाज व्यवस्थाएं जैसी होती हैं वैसी ही प्रजाजन की आर्थिक स्थिति हुआ करती है यह एक निर्विवाद ऐतिहासिक सत्य है। तुलसी के समय का आर्थिक चित्र खींचते समय यह बताया गया था कि उस समय में अर्थ-दृष्टि से उच्च और निम्न श्रेणी के बीच असमता की बड़ी गहरी खाई थी। राजनैतिक दूषणों के कारण मानसिक ह्रास यहां तक हो रहा था कि उच्च-निम्न दोनों प्रकार के लोग अपने बेटा-बेटी तक बेच देते थे। तुलसी ने उसे रोकने के लिए आवाज उठाई और उससे इतना फल तो अवश्य लगा, जैसा अभी पूर्व में कह आये हैं, कि सम्पत्तिवान उस नीच कर्म को छोड़ने लग गये थे। परन्तु निम्न श्रेणी के निर्धनियों की स्थिति में शताब्दियों तक कोई

दृश्यमान शुभ परिवर्तन नहीं हो सका क्योंकि देश में सुख-शान्ति का वातावरण जो अर्थोन्नति का प्राणदाता होता है, सैकड़ों वर्षों तक नहीं आया। तुलसी की क्रान्ति का इस सम्बन्ध में इतना ही परिणाम हुआ कि उसने धर्म-भावना से सिंचित मनोगति का इतना उत्थान कर दिया कि जनता पेटाग्नि-वश दुष्कर्मों में प्रवृत्त होने की गति को त्यागती गई।

(४) शिक्षा-क्षेत्रीय प्रमाण—

जन-शिक्षण-सम्बन्धी परिणाम भी उपरोक्त कारणों के विद्यमान रहने से न तुलसी को हाथ लगे और न भावी संतति को। ऊपर कहा जा चुका है कि आर्य-संस्कृति पर आधारित जिस ब्रह्मचर्य-प्रधान शिक्षा का लक्ष्य तुलसी ने बना रखा था, वह आजतक स्वप्नवत् हो रही है। समय की प्रबल गतियों को देखते हुए यह प्रतीत भी होता है कि वह समय कदाचित् ही कभी आवे जब प्राचीन कालीन उन ब्रह्मचर्याश्रमों अथवा गुरु-शिष्य-कुलों का प्रचारक होगा, जिनमें तुलसी जैसे महात्माओं के मत में जन कल्याण की सजीव मूर्तियां तैयार की जाती थीं। क्रान्तिकारी अपने जीवन काल में बहुत कुछ इस ढांचे के कुछ आश्रम अपने संरक्षण में स्थापित कर चला लेते हैं और उनकी मृत्यु के पश्चात् भी वे कुछ दिनों तक लड़खड़ाते हुए चलते भी रहते हैं, परन्तु अन्त में काल-वायु उन्हें पानी के उठते हुए बुलबुलों के समान छिन्न-भिन्न करके ही छोड़ती है। तुलसी ने यह किया, दयानन्द ने यह किया और गांधी जी ने भी यही किया, पर वे सब 'दुनिया की रफ़्तार बेढंगी' में विलीन होते चले जा रहे हैं। तुलसी का कोई इस प्रकार का आश्रम था, इसका कोई प्रमाण न होने के कारण, सम्भव है, किसी शंका-ग्रस्त द्वारा हमारे उक्त कथन पर आक्षेप किया जाय। परन्तु इतना तो प्रमाणित है कि "गोसाईं जी पहले अयोध्या में आकर रहे थे, और चित्रकूट में भी प्रायः रहना उनकी कविता से पाया जाता है, परन्तु उनका अधिक निवास काशी में ही रहा और अन्त में उन्हें काशी-वास हुआ। काशी में गोसाईं जी के चार स्थान प्रसिद्ध हैं—(१)अस्सी घाट (२)गोपाल मन्दिर

(३) प्रहलाद घाट और (४) संकट मोचन हनुमान।"[४२] गुरु-शिष्य की परम्परा भी निर्विवाद मान्य है, और उसी तरह यह भी मान्य है कि शिष्यों का शिक्षण, विशेषकर सांस्कृतिक शिक्षण गुरु के सम्पर्क में रहे बिना नहीं होता। तुलसीदास जी के कुछ न कुछ शिष्य अवश्य थे यह भी सब को विदित है, तथा यह भी सबको ज्ञात है कि वे राम-कथा का प्रचार रामलीला वा प्रवचनों द्वारा किया करते थे। इसमें उन्हें अपने सांस्कृतिक शिष्यों का सहयोग अवश्य लेना पड़ता होगा यह अनुमान अयौक्तिक नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में यह अनुमान भी युक्ति संगत होता है कि तुलसीदास जी अवश्य ही कम से कम अपने निवासस्थानों (आश्रम-स्थानों) पर अपनी निजी विधि के अनुरूप कुछ ऐसे शिष्यों को शिक्षित करते होंगे जिनसे उन्हें अपने कार्य-क्रम को संचलित करने में यथा विधि योग मिलने की सम्भावना हो। यह संसार के सभी क्रांतिकारी-नेताओं को करना पड़ता है, व्यवस्था के नाम वा रूपों में भले ही भिन्नता हो।

(५) धर्म-क्षेत्रीय प्रमाण (धर्म कर्म का सामञ्जस्य)—

अब ज्यों ही हम धर्म-क्षेत्रीय परिणामों की ओर दृष्टि ले जाते हैं त्यों ही हमारे सामने एक बात यह आ जाती है कि भारत में उठी हुई क्रान्तियों की पृष्ठ-भूमि सदा धर्म रही है। गीता में जो "यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति" मिलता है वह इसी निदान का प्रतीक है। इसी भूमिका को लेकर तुलसी की क्रान्ति उठी। इस धर्म की व्याख्या करते समय हम आठवें अध्याय में "धार्मिक-पद्धति" के अन्तर्गत यह बता आये हैं कि धर्म-विकास-सम्बन्धी दो विचार-धाराएं प्रचलित हैं, एक ऐतिहासिक और दूसरी आध्यात्मिक। दोनों में कर्म और धर्म दोनों के सामञ्जस्य को महत्व दिया गया है। पर अन्तर इतना है कि ऐतिहासिक स्कूल का सिद्धान्त है "कर्म पहले-धर्म बाद" और आध्यात्मिक स्कूल कहता है 'धर्म पहले कर्म बाद', परन्तु दोनों स्कूल

---

४२. तुलसी ग्रन्थावली, खं० ३, प्रस्तावना पृ० ३२

के लोग व्यवहार जगत में उतरते ही अपने अपने सिद्धान्तों से च्युत हो जाते हैं। वे कर्म के पीछे पागल बन धर्म को छोड़ बैठते हैं, और ये धर्म को पकड़ कर्म को छोड़ देते हैं। यही अहितकर क्रिया तुलसी के समय में व्याप्त हो रही थी, जिसे देखकर उनका हृदय व्याकुल हुआ। अतएव उन्होंने भारतीय क्रान्तिकारियों की परम्परा के अनुसार अध्यात्म-पक्ष को ग्रहण कर धर्म और कर्म के सामञ्जस्य के लिए घोष किया। इसी सामञ्जस्य का नाम भक्ति है, इसी का नाम मर्यादा है और इसी को कहते हैं, 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।' तुलसी की भक्ति में यही क्रान्तिकारी रहस्य है। इसके परिणामों के विषय में यहां कुछ कहना वैसा ही होगा, मानो 'पिष्टान-पिष्ट' की उक्ति के अनुसार 'पिसे हुए को पीस रहे हैं।' तुलसी के समय से लेकर अभीतक रामचरित मानस का अधिकाधिक प्रचार तथा विद्वान आलोचकों के तत्सम्बन्धी प्रशंसनीय विचार ये दो ऐसे उज्ज्वल आरसी हैं कि उनमें किसी भी दर्शक के सम्मुख तद्विषयक परिणामों की आकृति झलके बिना नहीं रह सकती। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि लौकिक जीवन के सभी अंगों में आपको धर्म से सम्पुटित कर्म की लोकरंजनी मर्यादा दिखाई देती है। मानव-जीवन के प्याले में तुलसी ने इस लोकरंजनी मर्यादा का ऐसा मधुर रस भर दिया है कि उसका घूंट लेते ही पशु-मानव यथार्थ मानव बन जाता है।

(६) साहित्य-क्षेत्रीय प्रमाण—

अब रहे केवल साहित्य-क्षेत्रीय परिणाम, सो उन पर हमारे द्वारा कुछ कहा जाना ऐसा होगा जैसे कोई खद्योत सूर्य जैसे साहित्य-समीक्षकों की रश्मियों के सामने अपना क्षुद्र नृत्य करने को उद्यत हो। फिर भी कुछ क्षुद्रता तो हम आठवें अध्याय में 'साहित्यिक पद्धति' के अन्तर्गत कर ही गुजरे। उसके पढ़ने से ज्ञात हुआ होगा कि तुलसी के समक्ष दो बड़ी कठिन समस्याएं थीं—एक तो आर्य-संस्कृति के साथ ही साथ जन-भाषा (हिन्दी) का जीवन खतरे में था, और दूसरे स्वार्थ और परमार्थ, दोनों का साधक

पुरुषार्थ प्रायः डूब चुका था। इन समस्याओं के हल करने में जो अनुकरणीय सफ़लता तुलसी को मिली है वह किसी से छिपी नहीं है। एक ओर तो मराठी, गुजराती, बंगाली आदि प्रान्तीय भाषाएं उमड़ रही थीं, तो दूसरी ओर फारसी राजदरबारों और विद्वानों की एवं उर्दू न्यायालयों तथा पठितों की भाषा बन रही थी। हमें अभी अभी तक के ब्रिटिश-शासन-कालीन न्यायालयों का अनुभव है कि उनमें भारत की वर्तमान स्वतंत्रता के पहिले तक किस तरह फारसी और उर्दू भाषा का प्रयोग होता था। इन कठिनाइयों का मुकाबला करने के हेतु यदि तुलसी की लेखनी ने अनुप्रास-अलंकार-उक्ति-भरा, ललित-मधुर-रस पूर्ण, धर्म-कर्म-भक्ति-प्रधान काव्य का, विशेष कर रामचरितमानस का निर्माण न किया होता तो कौन जाने हिन्दी-भाषा विशिष्ट रूप से लोक-प्रिय बन विविध प्रान्तों में इतनी अधिक प्रचलित होकर आज की राष्ट्र-भाषा बन पाती या नहीं—राष्ट्र भाषा ही नहीं अब तो वह राज-भाषा भी बन रही है। एक तो हिन्दी का राष्ट्र-भाषा वा राज-भाषा बन जाना ही महत्व की बात है, और दूसरे तत्कालीन पतित युग में पतितों में पुरुषार्थ का उद्भव करने एवं कुमार्गियों में मानवता का संचार करने का श्रेय भी तुलसी साहित्य के समीक्षक तुलसी ही को देते हैं। इतना ही नहीं, तुलसी ने अपने साहित्य में उन महत्वार्थी शास्त्रीय शब्दों और भाव-पीयूषों को भर छोड़ा है जिनमें आनन्ददायिनी मानवता को सदा पुन-र्जीवित करते रहने तथा अमर बनाये रखने की क्षमता है। कहा जाता है कि किसी विद्वान शास्त्रार्थी ने उनकी प्रशंसा में यह श्लोक बनाया था—

"आनन्द कानने कश्चिञ्जंगमस्तुलसी तरुः।
कविता मंजरी यस्य राम भ्रमर-भूषिता ॥"[43]

४३. तुलसी ग्रन्थावली (खंड-३) प्रस्तावना पृष्ठ ४६ पर इस श्लोक का उल्लेख है। उक्त प्रस्तावना के विद्वान लेखक के लेख से यह पता चलता है कि उक्त श्लोक की रचना किसी के मतानुसार शंकर मतानुयायी श्री मधुसूदन सरस्वती ने, किसी के अनुसार एक दिग्विजयी पंडित ने, और किसी के अनुसार आनन्दकानन ब्रह्मचारी ने की थी।

(यहां आनन्द कानन अर्थात् आनन्द वन के दो अर्थ होते हैं-(१) काशी नामक स्थान-विशेष, और (२) प्रकाशमान (कीर्तिमान) लोकानन्द। देखिये अध्याय दसवां।)

उक्त श्लोक का हिन्दी अनुवाद काशिराज महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायण सिंह ने इस तरह किया है—

"तुलसी जंगम तरु लसै, आनन्द कानन खेत।
कविता जाकी मंजरी, राम भ्रमर रस लेत॥"[४४]

इसी को यदि हम किंचित परिवर्तन करके निम्न दोहा के रूप में लिख दें तो तुलसी-साहित्य-सम्बन्धी हमारी धारणा व्यक्त हो सकेगी—

तुलसी कविता तरु लसै, आनन्द कानन खेत।
राम रसीली मंजरी, बुद्धि भ्रमर रस लेत॥

अभिप्राय यह है कि भाषारूपी आनन्दवन में तुलसी-काव्यरूपी वृक्ष शोभायमान हो रहा है और उसकी कलियां राम-रस (ईश्वरत्व अथवा आत्मतत्व) से भरी हुई हैं जिनका रस बुद्धिरूपी भ्रमर पान करता हुआ लोकानन्द की अनुभूति में मग्न रहता है।

इस लोकानन्द-पीयूष को पाने के लिए हमारा बुद्धि-भ्रमर केवल शाब्दिक छाल पर भिनभिना कर नहीं रह जाता। वह छाल पर थोड़े समय तक मंडराता हुआ उसके मुख्य शब्द स्थानों को ढूंढ़ता, और फिर उनके हृदय-स्थलों में प्रवेश कर वहां तुलसी के भाव-रस को प्राप्त करने का प्रयास करता है। यदि उसे वहां कोई प्राचीन या शास्त्रीय शब्द या भाषा मिलती है तो उसके मूलार्थ को जाने बिना उसे सन्तोष नहीं होता। वह समझता है कि तत्वज्ञ प्राचीन तथा शास्त्रीय शब्दों वा गाथा का प्रयोग करते समय उनके मूलार्थों पर अवश्य ध्यान रखते हैं। इसलिये तुलसी-साहित्य को पढ़ते समय यदि उक्त बात पर दृष्टि न रखी जाय तो पाठक

---

४४. वहीं, पृष्ठ ४७

को वह धर्म-प्रधान व्यावहारिक लोकानन्द नहीं मिल सकता जो तुलसी-काव्य की मंजरी-मंजरी में भरा है। तुलसी का यह धर्म-कर्म-प्रधान लोकानन्द अलंकारादि से युक्त उस लोकानन्द से भिन्न है जो हमें आक्षरिक छाल पर मिला करता है। दृष्टान्तस्वरूप कवितावली के उन अन्तिम कवित्तों को ले लीजिये जिनमें काशी और शिव का वर्णन किया गया है।[४५] जहां तक हमें ज्ञात है, किसी टीकाकार-आलोचक या अनुसन्धानकर्ता ने यह ध्यान नहीं दिया कि वह कौन-सी काशी वा शिव हैं, जिनके विषय में तुलसीदास जी ने लिखा है। सभी ने अपना ध्यान वर्तमान काशी नामक स्थान विशेष से सीमित कर लिया है, क्योंकि तुलसी वहां अस्सी घाट पर रहते थे और वहीं पर उनका देहान्त हुआ बताया जाता है, तथा यह भी ऐतिहासिक तथ्य कहा जाता है कि वहां एक नई प्रकार की बीमारी लम्बे काल तक चलती रही थी, जिसे तुलसी ने 'महामारी' कहा है। 'महामारी', 'पंचकोस', 'वारानसी' आदि जैसे कुछ शब्दों को तथा कुछ पौराणिक अनुषंगों (references) को देखकर विद्वानों ने यह निदान निकाल लिया कि तुलसी ने जो कुछ कहा है वह इसी काशी नगर के विषय में कहा है, और जो वेदनाएँ, वन्दनाएँ आदि उन कवित्तों में तुलसी ने प्रकट की हैं वे सब उसमें फैली हुई उक्त बीमारी की प्रतिक्रिया रूप हैं। इस प्रकार का अर्थ, हमारी समझ में, तुलसी के यथार्थ भाव को धूम्र के समान फैलकर ढांक देता है। तुलसी कुछ ऐसे पागल या मूर्ख तो थे नहीं कि वे मानव कृत चूना-ईंट के मन्दिर में स्थापित शिला-मूर्ति या पत्थर-लकड़ी के मकानों में बसे हुए जीव-जन्तुओं को देखकर उनके प्रति यह कहने लगते—

"अर्थ धर्म काम मोक्ष बसत विलोकनि में,
कासी करामाति जोगी जागत मरद की।"[४६]

---

४५. कवितावली उत्तर कांड—१५८-१८३
४६. कवितावली उ० कां० पृ० १५८

अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष वाली करामात किसकी है? जागत मरद जोगी की, अर्थात् उस योगी की जो लोक में मर्द होकर धर्म-कर्म करता रहे। इस करामात को क्या कहते हैं? काशी, अर्थात् यह लोक या सृष्टि जिसमें हर बलिष्ठ कर्मयोगी को उक्त चारों पदार्थ वाला लोकानन्द प्राप्त हो सकता है।

काशी यदि सृष्टि की प्रतीक न होती तो तुलसी यह बार-बार क्यों कहते?—

"मंगल की रासि, परमारथ की खानि, जानि,
बिरचि बनाई बिधि, केसव बसाई है ॥"[४७]

अथवा—

"बिरचि बिरंचि की, बसति बिस्वनाथ की जो,
प्रानहूं तें प्यारी पुरी केसव कृपाल की॥"[४८]

उक्त कथनों से स्पष्टतः विदित होता है कि तुलसी ने जिस काशी का उल्लेख किया है वह हमारी परिचित यह सृष्टि ही है—सृष्टि के अनेक पर्यायवाची नामों में से काशी भी एक नाम है। चूंकि उस नाम का एक नगर किसी ने किसी समय बसा दिया और उसके समीपस्थ एक पंचकोसी परिक्रमा बना ली तो उसे देखकर भ्रम में पड़ जाना विद्वानों को शोभा नहीं देता। यदि 'काशी' शब्द से तुलसी का अभिप्राय काशी नगर का होता तो वे उसका सम्बन्ध केशव, विरंचि और विश्वनाथ अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा और महेश से न जोड़ते। ये तीनों सर्वशक्तिमान परमात्मा की त्रिभावात्मक क्रियाएँ हैं, जो बहुधा त्रिदेव कहे जाते हैं। केशव का अर्थ टीकाकार विष्णु कहते हैं। परन्तु हमारी समझ में यह अर्थ उपयुक्त नहीं है। केशव आदि-स्वरूप भगवान् का नाम है। इस आदि-शक्ति में जो विविध रूपों में प्रकट होने का

४७. वही पृ० १८१
४८. वही पृ० १८२

स्वाभाविक गुण है वही तुलसी ने 'ज्योति रूप लिंग मई, अगनित लिंग मई'[४९] कहकर बताया है। वही भाव कृष्ण भगवान् ने इस तरह दर्शाया है—

'अंशवो ये प्रकाशन्ते मम ते केशसंज्ञिताः।
सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्प्राहुर्मां द्विज सत्तमाः॥'[५०]

अर्थात् जो मेरे प्रकाशशील अंश हैं वे ही केश, कहाते हैं। इसीलिए वे जो द्विजों अर्थात् विद्वानों में श्रेष्ठ-सर्वज्ञ हैं, मुझको केशव कहते हैं।

अतएव यह सिद्ध होता है कि जो श्रेष्ठ ज्ञानी हैं वे आदि-स्वरूप केशव और देवात्मक विष्णु को भेद दृष्टि से देखते हैं। यह केशव वैसा ही द्वयर्थक समझिए जैसा हम पूर्व में तुलसी के 'हरि' शब्द को प्रसंगानुसार आदि रूप और विष्णु रूप द्विभाववाची बता आये हैं।

इस आदिस्वरूप केशव ने कल्पना की कि एक ऐसी पुरी (सृष्टि) बसाई जावे, जिसमें उसके वासियों को सुख-समृद्धि अर्थात् लोकानन्द की सभी सामग्रियां पर्याप्त रूप से प्राप्त हो सकें, इसलिए उन्होंने उसका तदर्थी नाम भी काशी रखा। अतएव उनकी इच्छा अनुकूल उनके इंजीनियर ब्रह्मा ने उसका निर्माण कर दिया। निर्माण होने पर उन्होंने उस पर एक ऐसा सर्वत्यागी कर्मयोगी गवर्नर नियुक्त किया कि जिसके आचरणों के अनुकूल चलने से उसकी समस्त प्रजा लोकानन्द की अनुभूति करती रहे और परिणामतः उसका काशी नाम कलंकित न होने पावे। इसी काशी और इसी विश्वनाथ (शिव) का वर्णन तुलसी ने किया है, और यह बताया है कि जो कलिकाल के चक्कर में पड़कर इस काशीनाथ का पदानुगामी बनकर नहीं बर्तता उस पर वह गवर्नर मर्यादावश अपना रोष प्रकट कर उसे महामारी आदि व्याधियों से पीड़ित करता है—'संकर सरोष महामारी ही तें जानियत।'[५१]

---

४९. कवितावली पृ० १८३

५०. महाभारत

५१. कवितावली उ० कां० पृ० १८३

सारांश यह है कि उक्त कवित्तों में जिस काशी और शिव का वर्णन आया है उसके द्वारा तुलसी ने कलिकाल-वश सन्मार्गच्युत सृष्टि की समस्त प्रजा के दुःखों का चित्र खींचा है, न कि केवल काशी-शहर की प्रजा के दुःखों का। हो सकता है कि उस समय काशी-शहर पीड़ित हो और उसी से प्रभावित होकर तुलसी ने उक्त कवित्त एकबारगी अथवा स्फुटित रूप से लिखे हों, परन्तु फिर भी उन्होंने उस बहाने सर्वसामान्य परिस्थितियों पर ही प्रकाश डाला है जैसा कि गीताकार व्यास जी ने कौरव-पांडव-युद्ध के बहाने मानव-जीवन की एक सजीव रेखा गीता में खींच डाली है। तभी तो तुलसी ने उस प्रसंग का अन्त उन बातों को कहकर किया है जो न केवल काशी-शहर के मानवों पर वरन् सार्वभौम मानव-जगत् पर घटित होती हैं—

"आश्रम बरन कलि-विवस विकल भए,
निज निज मरजाद मोटरी सी डार दी।
संकर सरोष महामारि ही तें जानियत,
साहिब सरोष दुनी दिन-दिन दार दी॥
नारिनर आरत पुकारत, सुनै न कोऊ,
काहू देवतनि मिलि मोटी मूठि मार दी।
'तुलसी' सभीत-पाल सुमिरे कृपालु राम,
समय सु करुना सराहि सनकार दी॥"[५२]

क्या करे वह 'काल-कूट' अर्थात् काल तक को पी जाने वाला 'कालनाथ कोतवाल', और क्या करें उसके 'अमित अनूप गनप से सभासद'!! 'कुचालि कलिकाल की कुरीति' के सामने न तो उनकी बुद्धि ही काम करती है और न उनकी 'दंडकारि-दंडपानि' वाली नीति!! इसलिए वह 'सभीत-पाल' (Fearful governor) शंकर घबड़ाया हुआ अपने स्वामी

---

५२. कवितावली उत्तर कांड १८३

राम का स्मरण कर उनकी करुणा के लिये उनके पास जाकर पुकार लगाता है।[53] यह सब क्यों ? इसलिए कि नीच नर-नारी पंचेन्द्रियों का सदुपयोग करते ही नहीं। यदि उनका सदुपयोग किया जाय तो उनके द्वारा स्वार्थ और परार्थ अथवा लोक और परलोक दोनों सध सकते हैं, क्योंकि वे ही पतन से उन्य करने वाले पुण्य कोष हैं, जैसा निम्न कवित्त में दर्शाया गया है—

"पंच कोस पुन्य कोस, स्वारथ परारथ को,
जानि आप आपने सुपास वास दियो है।
नीच नर नारनि सँभारि सकैं आदर,
लहत फल कादर विचारि जो न कियो है॥
वारी वरानसी बिन कहे चक्रपानि चक्र,
मानि हित हानि सो मुरारि मन भियो है।
रोष में भरोसो एक, आसुतोष कहि जात,
विकल विलोकि लोक कालकूट पियो है॥"[54]

काशी और शिव के बहाने तुलसी ने लोक दशा का ही चित्र खींचा है। इस हमारे मन्तव्य की पुष्टि तुलसी स्वयं उक्त 'विकल विलोकि लोक' पद से कर देते हैं। शब्दार्थी लोग उसी से वरुणा नदी तक काशी की पांच-कोस की लम्बी परिक्रमा को 'पंचकोस' कहते हैं। परन्तु हमारी दृष्टि में वह पंचज्ञानेन्द्रियों का द्योतक है। इसी तरह 'वरानसी' भी हमारी अल्प-मति-द्वारा-निर्णीत 'काशी' की पर्यायवाची है, न कि बहुमताश्रित काशी-नगर की। 'वर' संस्कृत में पुलिंग संज्ञा है। उसका बहुवचन कर्मकारक 'वरान्' होता है। चूँकि 'वर' के माने 'श्रेष्ठ' अथवा 'मनोरथ-सिद्धि' होता है,

---

५३. कवितावली उ० कां० १७१

५४. ,, ,, ,, १७२ (वारी=जलादी; मन भियो है=मन में डरे या संकोच हुआ)।

इसलिए 'वरान्' के माने हुआ 'श्रेष्ठताओं' अथवा मनोरथ-सिद्धियों के लिये। 'असि' संस्कृत में 'अस' धातु का मध्यम पुरुष एकवचन का रूप है। चूंकि 'अस्' धातु के माने 'होना' (to be) होता है, इसलिए 'असि' के माने हुआ 'तू' है। अतएव वरान्+असि=वरानसि का अर्थ हुआ 'तू' श्रेष्ठताओं या मनोरथ-सिद्धियों के लिए है। यह 'तू' सर्वनाम सृष्टि के लिए कहा है। इस तरह वरानसि, जो कालान्तर से विकृत हो वरानसी वारानसी, वराणसी या वाराणसी कहाया, उस सृष्टि का प्रतीक है जो लोकानन्द देने वाली हो। यही व्याख्या हमने 'काशी' की की है। मानव सृष्टि की दृष्टि से यह 'वरानसी' अर्थात् लोकानन्द देनेवाली सृष्टि उसकी संयमित इन्द्रियां ही हैं। हमारे पूर्व परिचित त्यागमूर्ति लोक-पथ-प्रदर्शक शिव जी इनके अनिवार्य महत्त्व को भली भांति जानते हैं। परन्तु कुछ लोग त्याग या संयम प्राप्त करने के लोभ में अपनी जड़तावश उन इन्द्रियों को नष्ट कर डालते हैं। यह विधि अनुचित और अशास्त्रीय है क्योंकि उससे मन में विषय-रस का उभरना तो बन्द होता ही नहीं। इसलिए शिव को ऐसे विकास-बाधक जड़कृत्य पसन्द नहीं, कोई विद्वान् वा पंडित भले ही क्यों न उन्हें करे। यही भाव-रस हमारा बुद्धि भ्रमर तुलसी की उक्त पौराणिक भाषा में अवलोकन कर रहा है जो उक्त कवित्त की इन पंक्तियों में व्यक्त किया गया है—

वारी वरानसी, बिन कहे चक्रपानि चक्र,
मानि हित हानि सो मुरारि मन भियो है।

गाथा यों है कि "एक समय काशी में एक 'मिथ्या वासुदेव' नामक राजा ने द्वारका पर चढ़ाई की। कृष्ण ने सुदर्शनचक्र छोड़ा। चक्र ने उस राजा को परास्त कर काशी को भी जला डाला। उस समय श्रीकृष्ण ने शंकर से माफी मांगी थी कि चक्र ने बिना मेरी आज्ञा के ही तुम्हारी पुरी जला दी है, अतः मुझे क्षमा कीजिए।"[५५]

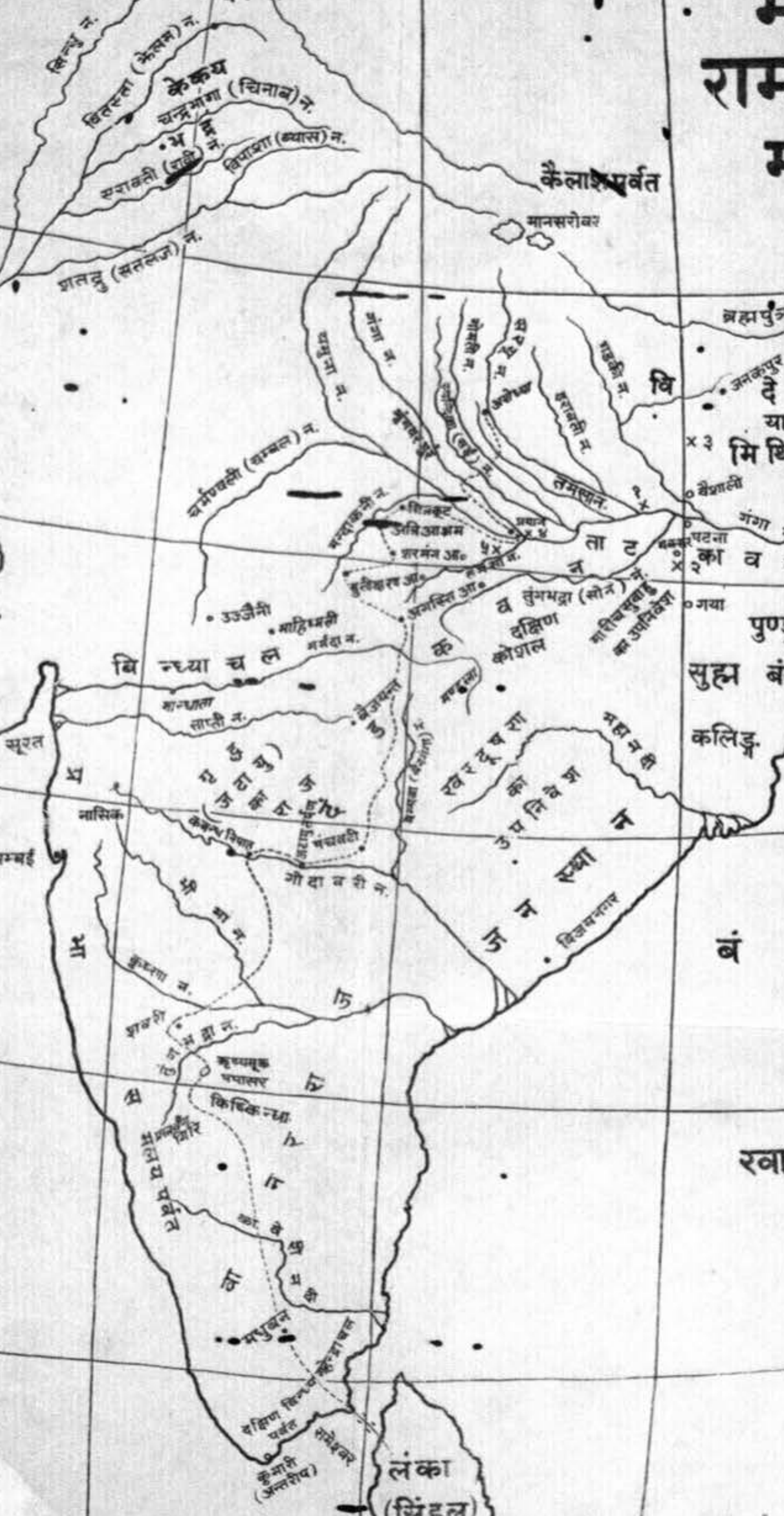
---

५५. 'दीन' और 'मिश्र' कृत सटीक कवितावली पृ० १९०; नोट—भागवत में लिखित गाथा और इसमें कुछ भिन्नताएँ हैं। परन्तु

इस गाथा में 'मिथ्या वासुदेव' मिथ्यानन्द का, 'चक्र' अज्ञता या जड़ता का, तथा 'काशी' 'सत्यानन्द' देने वाली इन्द्रियों का प्रतीक है। तात्पर्य यह है कि यदि इन्द्रिय-विषय सुख को समाप्त कर देने के अभिप्राय से सत्यानन्द-प्रद इन्द्रियों ही को जला डाले अथवा नष्ट-भ्रष्ट कर दे तो वह बिना विवेक के उक्त चक्र के समान ही होता है।

यह है लोक व्यवहारात्मक सत्यानन्द की दृष्टि से तुलसी के साहित्य का परिणाम-कारुणिक भगवान् राम के आश्रित रहकर त्यक्त या अनासक्त भाव से पुण्यकोषीय पंचेन्द्रियों द्वारा, पौरुषेय लोकानन्द अथवा मानवता प्राप्ति के हेतु, मानव मात्र के समक्ष, धर्म से सम्पुटित कर्म-मार्ग का जिसे भक्ति भी कहते हैं, प्रत्यक्षीकरण करके छोड़ जाना।

उन भिन्नताओं में वर्तमान प्रसंग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भिन्नताओं के लिए देखिए लेखक की पुस्तक "कृष्ण और गांधी की अहिंसा" (किताब महल, प्रयाग) पृ० ३३।


सिन्धु न.
वितस्ता (झेलम) न.
कैकय
चन्द्रभागा (चिनाब) न.
विपाशा (व्यास) न.
मानसरोवर
शतद्रु (सतलज) न.
यमुना न.
गंगा न.
गोमती न.
गण्डकी न.
अयोध्या
चर्मण्वती (चम्बल) न.
मन्दाकिनी न.
चित्रकूट
अत्रिआश्रम
शरभंग आ०
सुतीक्ष्ण आ०
अगस्त्य आ०
प्रयाग
वैशाली
गंगा
पटना
गया
तुंगभद्रा (सोन)
दक्षिण कोशल
उज्जैनी
माहिष्मती
नर्मदा न.
बिन्ध्याचल
मान्धाता
ताप्ती न.
सूरत
नासिक
पंचवटी
गोदावरी न.
महानदी
कलिङ्ग
सुह्म
विजयनगर
कृष्णा न.
ऋष्यमूक
पम्पासर
किष्किन्धा
मधुवन
रामेश्वर
कुमारी (अन्तरीप)
लंका